THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182260

UNIVERSAL
LIBRARY

प्रगति प्रकाशन

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No H81.6 | S25Ba Accession No. GH.2336
Author सत्यार्थी, देवेन्द्र |
Title बन्दनवार | 1949
This book should be returned on or before the date last marked below

बन्दनवार

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत

गिद्धा (१९३९) : पंजाबी
दीवा बले सारी रात (१९४१) पंजाबी
मैं हूँ ख़ानाबदोश (१९४१) उर्दू
गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६) . उर्दू
Meet My People (१९४६)
धरती गाती है (१९४८)
धीरे बहो गंगा (१९४८)
बेला फूले आधी रात (१९४८)

कविता

धरती दीयां वाजां (१९४१) : पजाबी

कहानिया

कुंग पोश (१९४१) पजाबी
नये देवता (१९४३) उर्दू
और बाँसुरी बजती रही (१९४६) . उर्दू
चट्टान से पूछ लो (१९४८)
चाय का रंग (१९४९)

निबन्ध

एक युग एक प्रतीक (१९४८)
रेखाएं बोल उठीं (१९४९)

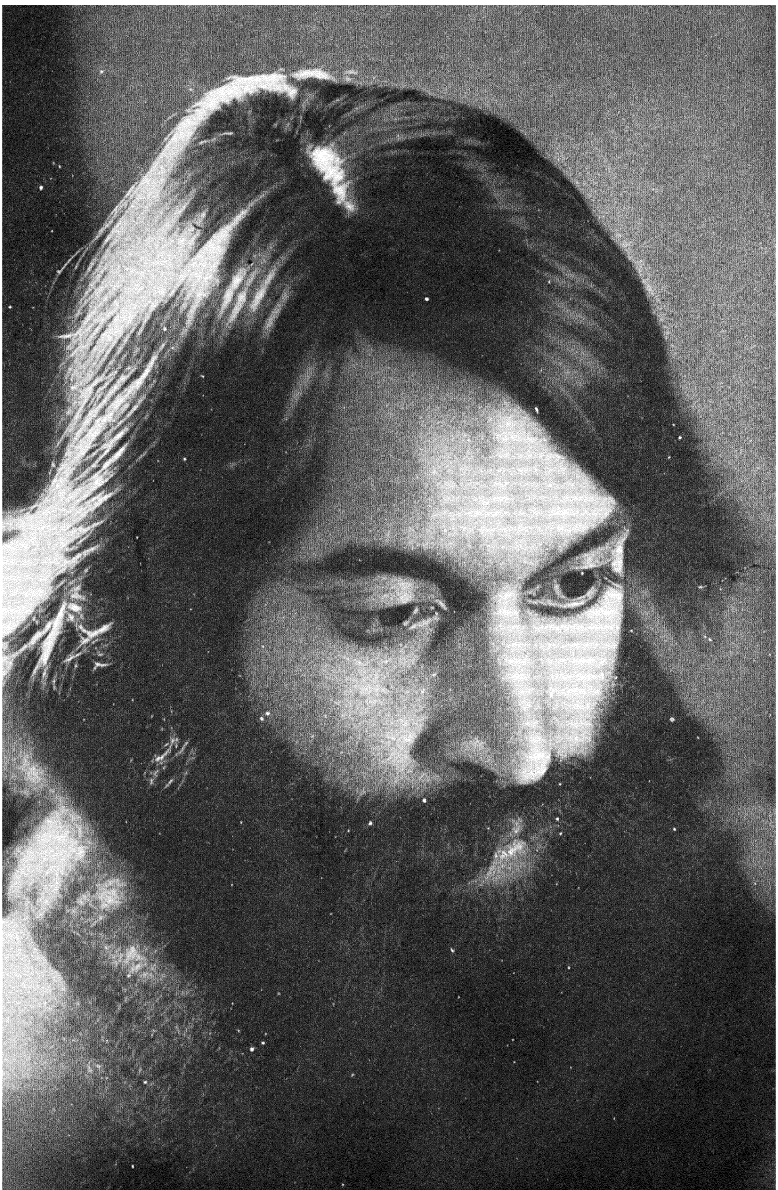

देवेन्द्र सत्यार्थी

बन्दनवार

प्रगति प्रकाशन
नई दिल्ली

कापी राइट
१९४९

प्रकाशक
प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स
१४-डी फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली

चार रुपये

मुद्रक—श्यामकुमार गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली

श्री बलवन्त भट्ट को

सूची

दृष्टिकोण ६

युगद्वार

ब्याह के ढोल ४३
शाल ४६
हातो ५०
रेशम के कीडे ५३
हिन्दुस्तान ५५
एशिया ५७
युग आता है, युग जाता है ६१
क्रान्ति ६४
मिस्र देश ६६
कवि और शिरीष ६६
टोडा संस्कृति ७२
सरोजिनी नायडू ७५
गेटे ७८
जन्म दिन ८०
आषाढस्य प्रथम दिवसे ८३
बन्दनवार ८७

वातायन

भारत माता ६१

मणिपुरी लोरी ९५
बलिदान ९९

रूपवाणी

प्रेयसी १०५
ताजमहल १०८
कूचबिहार ११०
नर्त्तकी ११२
सन्थाल कुलवधू ११७
खानाबदोश ११९
अबाबील १२१
गुलमुहर के फूल १२२
गेहूँ की बालियां १२४

सरगम

सभी गायिकाएं थम जाती १२९
बाट जोहते रहियो १३४
हिम १३५
खून का गीत १३७
स्पेन १३८
तो हम आज चतुर्दिक से हे उमंडे १४०
बैगपाइप संगीत १४४

अबीर गुलाल

फागुनी व्यंग्य १४९
कुल्लू का देवता १५२
रावणलीला १५४
पुरी १५६
बेगार १५८
उमर खैयाम १५९
काफी हाउस १६१

दृष्टि कोण

मैं यह बात तो सोच ही नही सकता कि जिस देश मे मेरा जन्म हुआ और जिसकी संस्कृति ने लोरी के स्वरो मे अपनी वाणी झंकृत की, उसका अतीत मेरी कल्पनामे रचा हुआ न हो। यही नही, बल्कि उसकी समूची पृष्ठभूमि मेरी रचनात्मक भावनाओ के लिये सुलभ-प्राप्य वस्तु बन जानी चाहिये, जैसे आज के चित्र-शिल्पी के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ववर्ती चित्रकला की समूची परम्परा से परिचित हो।

वैदिक ऋचाएं मुझे बचपन मे ही सुनने को मिली। कुछ तो मुझे कठस्थ भी करा दी गईं। उनकी भाषा से मै एकदम अपरिचित था, फिर भी उनके शब्द-संगीत का मुझ पर गहरा प्रभाव पडा। अनुवाद-द्वारा ही सही, संस्कृत-साहित्य के साथ भी मैने थोडा-बहुत सम्पर्क बनाये रखा। लोक-गीत-यात्रा के लम्बे वर्षों मे जहां एक ओर मुझे विभिन्न भाषाओ की लोक कविता का परिचय मिला वहां दूसरो ओर अनेक साहित्यकारो से भी मेरा साक्षात्कार हुआ।

कविता और कहानी की ओर मै एक साथ आकृष्ट हुआ, वह भी सन् १९४० मे। आरम्भ कविता से ही हुआ और वह भी पंजाबी मे। बस यों ही गुनगुना कर कुछ लिख डाला था। वह स्वयं मेरे लिये भी कुछ आश्चर्य का विषय नही था, पर मन पर जैसे एक नशा-सा छा गया। जब यह कविता एक प्रसिद्ध पंजाबी मासिक मे प्रकाशित हुई तो एक आलोचक ने तो यहां तक कहा कि इसमे ध्वनि-संगीत का अछूता प्रयोग किया गया है। पर मै

स्वयं इससे सन्तुष्ट नही था। मै तो एकदम पागल-सा हो उठा था, यो ही कुछ-न-कुछ गुनगुनाने लगता, फिर सोचता—क्या गुनगुनाना ही कविता के लिये पर्याप्त है? मैं जैसे पजाबी के शब्दो को खिलौनो की तरह सजा कर रखता। कुछ कविताएं ताश के घर के समान खुद ही गिर जाती, कुछ को मै स्वयं गिरा देता। मन स्वयं अपना आलोचक बन बैठा था, और मै सोचता कि अब जब यह खेल शुरू किया है तो महाकवि नही तो कवि तो मुझे अवश्य ही बन जाना चाहिये।

सन् १९४१ मे मेरी पंजाबी कविताओ का प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ—'धरती दीयां बाजां' (धरती की आवाजे)। प्रस्तावना मे मैने लिखा था—'मेरी कविताओ ने बडे वेग से जन्म लिया है। इनकी धमनियो मे मेरा अपना रक्त बह रहा है। भविष्य इनके सम्बन्ध मे अपना निर्णय स्वयं कर लेगा। विश्व सदा से परिवर्तनशील रहा है। पर धरती रूप नही बदलता। धरती माता की आवाजें जनता चिरकाल से सुनती आई है।"

उन्हीं दिनो एक मित्र ने व्यंग्य से कहा—"तुम्हे धरती-रोग हो गया है, इससे बचो। कवि का मन किसी एक शब्द पर आकर अटक जाय, तो समझो कि उसकी प्रतिभा का दिवाला पिट गया।" मैने इस परामर्श की ओर जरा भी ध्यान न दिया, क्योकि धरती मेरे लिये केवल एक शब्दमात्र न थी। यह तो मेरे लिये जीवन और संस्कृति की प्रतीक रही है।

पजाबी-माध्यम मुझे आज भी प्रिय है। पर हिन्दी-माध्यम को अपनाने का मोह भी मै संवरण न कर सका। क्योकि अनेक अवसरो पर, जब भी मुझे पंजाबी न समझनेवाले मित्रो के सम्मुख कोई कविता सुनानी पडी और साथ ही उनकी जानकारी के लिये इसका भावार्थ हिन्दी मे समझाना पडा, मेरी यह धारणा पक्की होती गई कि कविता अनुवाद मे अपना बहुत-कुछ खो देती है। अत. मैने सोचा क्यो न कभी-कभी हिन्दी-माध्यम मे भी लेखनी आज़माई जाय। 'बन्दनवार', 'नर्तकी'-शीर्षक कविता इस प्रयास का सर्व-प्रथम परिणाम है। हरिद्वार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मैने इसे कवि-सम्मेलन मे पढने का दुस्साहस भी कर डाला था। फिर भी मै इसे किसी हिन्दी पत्रिका मे प्रकाशन के लिये भेजने का साहस न कर सका। सौभाग्यवश कुछ दिन बाद दिल्ली मे श्री सुमित्रानन्दन पन्त से भेट हुई। स्व० डा०नीलाम्बर जोशी के हस्पताल मे उनकी आंखो की चिकित्सा होने जा रही

थी । उनके सम्मुख भी बडी सरलता से मैने यह कविता सुना डाली तो उनके मुख से अनायास ही ये शब्द निकल पडे,—नर्तकी कविता नहीं एक मूर्ति है, एक पूरी चट्टान को काट कर बनाई गई मूर्ति, कही कोई जोड तो है ही नही . . फिर भी यह कविता मेरे पास अप्रकाशित ही पडी रही । दिल्ली मे एक कवि महोदय ने तो अपनी एक कविता मे इसकी कुछ पंक्तियो की छाया प्रस्तुत करने का दुस्साहस तक कर डाला । अब मैने यही उपयुक्त समझा कि इस कवि पर दोषारोपण करने की बजाय 'नर्तकी' को किसी स्टैंडर्ड पत्रिका मे प्रकाशित करा दिया जाय । अत 'नर्तकी' 'हंस' मे प्रकाशित हुई ।

मै अपनी कुछ कविताएं शुरू-शुरू मे पंजाबी से हिन्दी मे हू-ब-हू परिणत करने मे भी सफल हुआ । 'रेशम के कीडे' और 'मिश्र देश' ऐसी ही कविताएं है । ये भी 'हंस' मे प्रकाशित हुई थी । इन्हे हिन्दी मे परिणत करने का कार्य हँसी-हँसी मे सम्पन्न हो गया था । इसका एक कारण यह भी था कि इनके मूल रूप पंजाबी कविता की रूढ़िवादी और परम्परागत शैली के स्थान पर स्वतन्त्र नूतन शैली मे प्रस्तुत किये गये थे । पुरानी पंजाबी कविता के अनुयायी इस शैली को रबड-छन्द कह कर इसकी हंसी उडाते थे । रबड़-छन्द का नाम देकर पुराने मत के कवि यह कहने का यत्न करते थे कि वस्तुत यह कविता इतनी बेतुकी है कि किसी भी छन्द का अनुशासन स्वीकार नहीं करती । इसके विपरीत इस नूतन शैली के अनुयायियो का यह मत था कि इस शैली मे लिखने के लिये भी बडा संयम चाहिये और यह वस्तुत कोई हास्यास्पद वस्तु नही । जब मैने देखा कि इसी शैली के मिलते-जुलते प्रयोग हिन्दी और अनेक प्रान्तीय भाषाओ मे भी किये जा रहे हैं तो मुझे बडा हर्ष हुआ । यो लगा कि मै किसी एक प्रान्त के छोटे-से कबीले का सदस्य न होकर आधुनिक कवियो के विशाल कबीले का सदस्य हूँ जो न केवल भारत के अनेक प्रान्तो मे फैला हुआ है, बल्कि विश्व के प्रत्येक देश मे आज उसके प्रयत्न दृष्टिगोचर होते है । यहां मैं यह कह देना उचित समझता हूँ कि शुरू-शुरू मे मुझे पुरानी शैली की कविता ही पसन्द थी जो किसी-न-किसी नपे-तुले छन्द पर आश्रित रहती थी । विशेष रूप से पंजाबी मे, जहां नई शैली का एकदम अभाव था, यह स्वाभाविक ही था कि पुरानी शैली की कविता में से ही अपनी पसन्द की वस्तु चुनता । यहां फिर यह कह दूं कि पुरानी शैली की पंजाबी कविता मे जो कविता मुझे उन दिनो पसन्द थी, वह आज भी

एकदम नापसन्द नहीं। पर मेरे कहने का भाव तो बस इतना ही है कि जब मुझे कविता की प्रेरणा प्राप्त हुई कुछ कवि अपने लिये पुरानी पगडंडियो को छोड कर नई पगडंडियां बना रहे थे। अत: मैने भी नई पगडडी को अपनाना ही उचित समझा। या यह कहिए कि मै इतना सौभाग्यशाली रहा कि आरम्भ मे ही मुझे एकदम नई शैली के प्रयोग करने के अवसर प्राप्त हो गये, यह नही कि कुछ देर इधर-उधर भटक कर इधर आने का ध्यान आया।

स्पष्ट है कि जहां तक नई शैली का सम्बन्ध है, इसमे भी कुछ कम परिश्रम नही करना पडा। कदाचित् पुराने मत के लोग, जिनका अभी तक नई शैली की कविता मे विश्वास नही जमा, 'परिश्रम' शब्द के प्रयोग पर नाक-भौ चढा कर कहे—"यही तो हम भी कहते हैं कि तथाकथित नई शैली की कविता मे काट-छांट और जोड-तोड का परिश्रम अधिक है, अनुभूति और प्रेरणा का यहा एकदम अभाव है।"

मै यह कहने की धृष्टता तो नही कर सकता कि पुरानी छन्दोबद्ध शैली मे आधुनिक युग के अनुरूप अच्छी कविता का सृजन असम्भव है। हाँ, यह अवश्य कहूंगा कि जिस प्रकार पुरानी कविता मे भी निरन्तर विकास हुआ है और प्रत्येक कवि की प्रत्येक कविता काव्य की कसौटी पर एक समान बहुमूल्य सिद्ध नही होती, उसी प्रकार हो सकता है कि नई शैली की भी अनेक कविताओ का साहित्यिक मूल्य बहुत अधिक न हो, पर किसी को आज यह कहने का दुस्साहस तो हर्गिज नही करना चाहिए कि नई शैली की कविता एकदम मिथ्या प्रलाप है—एकदम मस्तिष्क का षड्यन्त्र, जिसमे हृदय की जरा भी परवाह नही की जाती।

नई शैली की कविता आज विश्व की प्राय. प्रत्येक उन्नत भाषा मे दृष्टिगोचर होती है। स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि का अनुभव एक-जैसा नही हो सकता, और यह आवश्यक भी नही कि विभिन्न कवियो की कविता एक-दूसरे की कारबन-प्रतिलिपि प्रतीत हो, और यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न कवियो की कविताओं का साहित्यिक स्तर एक दूसरे से भिन्न होगा, क्योकि यह तो असम्भव है कि सभी कवि अनुभव और अभिव्यक्ति के संतुलन मे सदैव कला के उच्च स्तर को प्रस्तुत कर सके। पर क्या यह कुछ कम महत्वपूर्ण बात है कि आज सभी उन्नत भाषाओ के कवि पुरानी पगडंडियो को छोड कर नई पगडंडियाँ अपना रहे है जिनके द्वारा आधुनिक युग को वास्तविक अभि-

व्यक्ति हो सके। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास की कला मे आधुनिक मानव ने उन्नति की है और किसी भी देश मे आज का उन्नत कहानी-लेखक और उपन्यासकार यह नही सोचता कि उसे अपने देश की पुरातन लोक-कथाओ और गाथाओ की शैली को ही अपनाना चाहिए, बल्कि वह तो यही सोचता है कि कहानी और उपन्यास की कला समूची मानवता की थाती है, और उन्नति होते-होते कहानी और उपन्यास की कला जहाँ तक आ पहुंची है अब उसे उससे आगे जाना चाहिए, उसी प्रकार कविता के क्षेत्र मे भी आज इसी धारणा को अपनाने की आवश्यकता है। वैसे तो एक प्रकार से यह धारणा कविता के क्षेत्र मे भी अपनाई जा रही है, पर यह बात विशेष रूप से उन कवियो और आलोचको के लिये लिखी जा रही है जो नई कविता की शैली मे अभी तक विश्वास प्रकट करते हिचकिचाते हैं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी कविता मे नये स्वर छेडते हुए टी० एस० इलियट ने 'दि लवसौंग आफ अलफ्रैड प्रुफ्रोक' मे कहा था—

Let me go then, you and I,
When the evening is spread out against the sky,
Like a patient etherised upon a table,
Let us go through certain half-deserted streets,
—'तो चलो हम चलें
जब सन्ध्या आकाश के आंचल मे फैली हुई है
जैसे मेज पर बेहोश किया हुआ मरीज,
चलो हम कुछ उजडी गलियो से गुजरें।'

स्पष्ट है कि कवि के मन मे अभी तक युद्धकालीन वातावरण की प्रतिक्रिया चल रही थी। इससे बडी व्यंगोक्ति क्या होगी कि जब अंग्रेजी कविता इस स्तर पर पहुच चुकी थी हिन्दी मे अभी खडी बोली की कविता मे छायावाद और रहस्यवाद की दागबेल डाली जा रही थी। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जब इंगलैंड मे रोमांटिक कविता का स्थान घोर यथार्थवादी कविता ले रही थी हमारे यहां एक प्रकार से यही रोमांटिक कविता छायावादी एवं रहस्यवादी घूंघट काढ़ कर अग्रसर हो रही थी। इसका बडा कारण तो यही था कि समय की दौड़ मे हम पीछे रह गये थे। इतना

गनीमत हुआ कि हिन्दी-कविता के गगन पर छायावाद और रहस्यवाद के बादल चिर-काल तक नही टिके रह सके। यहां भी यथार्थवादी कविता का प्रचलन होने लगा, जिस पर विज्ञान की पुट उसी प्रकार दृष्टिगोचर होने लगी जैसे यह यूरोप की कविता पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी।

कदाचित् कुछ लोग यह आपत्ति करे कि यह तो गोलमोल-सी बात हो गई। यथार्थवादी कविता और नई शैली की कविता, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, क्या यह सब एक ही वस्तु है? यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि युग की आवश्यकताओ के अनुरूप हमारे कवि भी यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाने लग गये, यद्यपि कुछ कवि अभी तक पिछली दलदल मे ही फंसे हुए है।

बँगला कविता मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वय जिस शैली की कविता की जय-पताका फहराई थी, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे उससे भिन्न प्रकार की कविता प्रस्तुत की जिस पर गहरा यथार्थवादी प्रभाव नजर आता है। 'जन्मदिन' (१९४०) शीर्षक कविता की आरम्भिक और अन्तिम पक्तियो मे कवि कहता है—

दामामा ओई बाजे
पिन बदलेर पाला एल
झोडो युगेर माझे।
शुरू होवे निर्मम एक नूतन अध्याय
नहले केन एल अपव्यय
अन्यायेरे टेने आते अन्यायेरि भूत
भविष्येर दूत
× × ×
शेष परीक्षा घटाबे दुर्दैवे
जीर्ण युगेर कंचयेते कि जाबे कि रहबे।
पालिश करा जीर्णता के चिनते हबे आजि
दामामा ताई ओई उठे छे बाजि।

—'वह दमामा बज रहा है
दिन बदलने का अवसर आया

झड़ के युग मे ।
एक निर्मम नूतन अध्याय शुरू हो रहा है ?

× × ×

शेष परीक्षा दुर्दैव निर्णय करेगा
कि जीर्ण-युग के सचय मे क्या जायगा कहाँ रहेगा
आज पालिश की हुई जीर्णता को पहचानना होगा
दमामा इसीलिए बज उठा है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस कविता के पीछे एक विशेष दृष्टिकोण नजर आता है, जो उनकी इससे पहले की रचनाओ मे नही उभर पाया था । इसे देखते हुए झट यह कहने को मन होता है कि साहित्यिक शैली अथवा ढाचे से कही अधिक कवि का दृष्टिकोण ही मुख्य वस्तु है । 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' की कसौटी आधुनिक कविता का वास्तविक मूल्यांकन नही कर सकती, क्योकि आधुनिक कविता मे रस का स्थान दृष्टिकोण ने ले लिया है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता मे यह परिवर्तन आकस्मिक नही था ।

जैसा कि श्री गोपाल हालदार ने समसामयिक बंगला कविता की चर्चा करते हुए लिखा है, कुछ दिनो से हमारे जीवन मे जो जिज्ञासा उत्पन्न हो रही थी, उसी की आकस्मिक और उग्र अभिव्यक्ति अब हम देख रहे है, यह भूलना नही चाहिए । सम्भवत. यह उन्मादना सामयिक है, परन्तु यह जिज्ञासा सामयिक नही है । यह बात हम सभी जानते है कि इस युग मे एक जीवन-जिज्ञासा हम सबके लिए दुर्निवार हो उठी है । इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक युग मे मनुष्य-जीवन जिज्ञासा से चचल होता है । असल मे उसकी चिन्ता-भावना मे, कथा-कल्पना मे, सृष्टि-साधना मे, उसकी कला-दृष्टि मे, साहित्य-संगीत मे, उसके शहर के ऊपर, उसके समाज के ऊपर, उसके आईन-कानून मे, उसके विद्रोह-विरोध मे उसी जीवन-जिज्ञासा का ही स्वाक्षर रहता है । लेकिन फिर खास-खास युग मे यह जीवन सत्य उग्र और असहनीय हो कर सामने खडा होता है, उस समय उसका सामना करते हुए मनुष्य चौंक उठता है, दोनो आंखे बन्द हो जाती हैं, उस विराट् और भयंकर मूर्ति के सामने मुख पीला पड जाता है । हमारे जमाने मे सभी देशो मे जीवन इस मृत्यु के

वेश मे आ खडा हुआ है। हमारे देश मे भी उसका वह रूप कुछ दिनो से दिखाई दे रहा था। रवीन्द्रनाथ भी अपने अन्तिम दिनो मे इस ओर तीव्र रूप से सचेत हो रहे थे। उनके अन्तिम दिनो मे उनकी ध्यान-धारणा मे, वाणी मे और वाणी-रूप मे एक सुस्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया था, सभ्यता के सकट ने केवल उन्हे हिलाया ही नही, उनकी सृष्टि मे वह रूप ग्रहण करने लगा। उन्होने समझा कि कालान्तर हो रहा है। उनकी जिज्ञासा तीक्ष्ण हो उठी। नये सुर मे, नई बातो मे उनकी अभिव्यक्ति होने लगी।

जब कवि का दृष्टिकोण बदलता है तो वस्तुत उसे परीक्षा-युग से गुजरते हुए नया रास्ता ढूँढना पडता है, क्योकि जब जीवन-सत्य ही रूपान्तरित हो जाय तो न पुरानी भाषा काम दे सकती है, न पुरानी रीति ही कविता की प्रतिभा को अग्रसर करती है। बँगला-साहित्य के विकास मे, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वीकार किया था, सबसे अधिक प्रेरणा यूरोप से प्राप्त हुई थी। गोपाल हालदार के मतानुसार रवीन्द्र-काव्यधारा की विवेचना करते हुए हम कवि को तीन युगो से लाघते हुए देखते हैं। निस्सन्देह हमे यहा एक महान् प्रतिभा के महाप्रयाण का दर्शन होता है। एक युग वह है जिससे कवि 'मानसी' से स्वदेशी युग को पार कर 'गीतांजलि', 'गीतिमाल्य' 'राजा' और 'डाकघर' के युग को अतिक्रम कर हमे 'बलाका' के द्वार तक पहुंचा देता है जिसमे महायुद्ध के मन्थन-काल से प्रभावित कवि का युद्धान्तवर्ती युग था। क्योकि गोपाल हालदार के शब्दो मे रवीन्द्रनाथ-काव्य की ओर से भी देखा जाय तो उसमे भी पर्व से पर्वान्तर है, 'मुक्तधारा', 'रक्त करवी' के साथ 'शेषेर कविता', 'महुआ', 'पूरबी' का योग और पार्थक्य दोनो हे। किन्तु यह दूसरा युग शेष होने लगा 'पुनश्च'और 'परिशेष' मे। फिर तीसरा युग आता है जिसमे कवि देखता है कि युगान्तर नही कालान्तर हो रहा है। यह वस्तुत एक नवीन सत्य का युग है जब कवि ने जीवन को विशालतर परि-पेक्षण(पर्सपेक्टिव) मे देखा। यह दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ और परमार्थ का समय है। इस प्रकार हम देखते है कि महायुद्धो के बीच की बगला कविता मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा नूतन स्पर्द्धा, नूतन शक्ति और नूतन सृष्टि का आविर्भाव हुआ

रवीन्द्रनाथ की कविता के अन्तिम युग मे हमे कुछ अति आधुनिक कवियो के दर्शन होते है जो यह मत रखते थे कि न केवल प्रत्येक युग मे युग की

विचित्रता रहती है, बल्कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्टता भी रहती है। ये लोग युग-लक्षण पर जोर देते थे जो विषय-वस्तु और अभिव्यंजना-शैली मे उन्हे समान रूप से बाँधे हुए था। ये अति आधुनिक कवि रवीन्द्र की कविता के विरुद्ध विद्रोह करने पर तुले हुए थे, पर जब उन्होने देखा कि 'महुआ', 'शेषेर कविता' 'पूरबी' और 'पुनश्च' का कवि उनके नवीन सत्य को भी वाणी प्रदान कर सकता है तो वे सचमुच अवाक् रह गये। अति आधुनिको मे युद्धान्तवर्ती काल की यूरोपीय जीवन-जिज्ञासा से उधार लिये हुए क्रोध और अश्रद्धा ने तारुण्य की चपलता का सहारा पाकर विद्रोह की पताका फहराई थी, पर जब उनके जीवन-बोध ने अपनी परिमिति को छू लिया तो साम्प्रतिको को उनका स्थान ग्रहण करने देर न लगी। गोपाल हालदार के मतानुसार "उस प्रयोग मे कृतित्व से अकृतित्व का बोझ ही अधिक भारी हुआ। इसमे विस्मय की कोई बात भी नही है। प्रयोग और सफल अभिव्यक्ति एक वस्तु नही हैं। अनेक व्यर्थ प्रयोगो के बाद कही एक सार्थक अभिव्यक्ति दिखाई देती है। प्राकृतिक जगत् मे भी हम देखते है कि कितने मृत-जातक और शिशु मृतक जीवो के द्वारा परीक्षा चलती है, जिसके पश्चात् एक नवीन जीव का आविर्भाव होता है, एक नूतन सृष्टि होती है। अति आधुनिको के प्रयासो मे भी असंख्य उपहासास्पद बाते थी। आज वे सब मिट गई है। वही रह गया है जिसमे जीवन-सत्य की स्वीकृति थी।"[1]

यहा यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि जब बंगाल के अति-आधुनिको ने अपने हाथ से बंगला-कविता की बागडोर निकलती देखी तो वे एकदम रवीन्द्र-भक्त बन गये। यह बात बडी हास्यास्पद है, क्योकि यह तो ऐसे ही है जैसे कोई रवीन्द्रनाथ के केश-प्रसाधन, वस्त्र-परिच्छद और कण्ठ-स्वर बल्कि वाग्-विन्यास-शैली तक का अनुकरण कर यह सोचे कि अब वह भी रवीन्द्रनाथ बन जायगा। इन अतिआधुनिको मे बुद्धदेव वसु का नाम उल्लेखनीय है। अच्छा होता कि वे अपने ही पथ पर अग्रसर रहते और ख्वाह-म-ख्वाह किसी अनुकरण-प्रवृत्ति की दलदल मे न फँसते।

जो साम्प्रतिक बँगला कवि प्रयोग के युग को पार कर अभिव्यक्ति के युग मे प्रवेश कर चुके हैं उनमे हर किसी की दृष्टिकोण और अभिव्यंजना-शैली मे

१ वही, पृष्ठ ६८८

कुछ-न-कुछ अपनी विशेषता है। गोपाल हालदार के मतानुसार इन कवियो की कविता मे "कुछ शब्द बहुत ज्यादा व्यंजनापूर्ण (Suggestive) हो उठे हैं। इसीलिए अनेक व्यक्तिगत अथवा विदेशीय शब्दो के इंगित ने भी कविता मे स्थान कर लिया है। टूटी-फूटी बातो की तरह मन की टूटी-फूटी स्मृति अथवा विस्मृति को प्रकट करने की चेष्टा उनमे सुस्पष्ट है। इसके अलावा बँगला कविता कभी तो एकदम गद्य की तरह छन्दो के बन्धन से मुक्त है और कभी बिल्कुल सुरप्रधान सगीतधर्मी है। अर्थात् बंगला कविता मे इस प्रयोग-युग के उत्तीर्ण कवियो की सबसे बडी देन टेकनीक मे है। और इस टेकनीक की परीक्षा मे इलियट-पाउन्ड और उनके बाद के युग के यूरोपीय काव्य मे से बहुत-सी शिक्षाएं और इंगित बटोरे गये है। भाषा और भाव को लेकर यह टेकनीक-सम्बन्धी प्रयोग बहुधा केवल कौशल मे परिणत हो सकता है। तब वह रचना-कौशल की आत्यन्तिक परिष्कृति की ऐसी सनक (craft-fetishism) के समान हो जाता है, जिसमे कवि भाव-पक्ष की चिन्ता करना ही छोड देता है। सृष्टि मे टेकनीक का मात्राधिक्य एक बुरा लक्षण भी हो सकता है। शिल्पोत्पादन के क्षेत्र मे टेकनीक्रेसी और मैनेजीरियल रिवल्युशन (tichnocracy and managerial revolutions) उसी के प्रमाण-स्वरूप है। इलियट ने भी अनेकांश मे उसी रास्ते से काव्य-सिद्धि का मार्गानुसन्धान किया है।"[1]

बँगला साम्प्रतिको की परीक्षा द्वितीय महायुद्ध छिडने पर आरम्भ हुई थी। वस्तुत इसी समय देश-देश मे इस शैली के कवियो के सम्मुख परीक्षा-युग का आविर्भाव हो गया था। यह महायुद्ध अपने साथ सचमुच एक भाव-संकट भी लेता आया, क्योकि इस महायुद्ध का रूप प्रथम महायुद्ध से एकदम भिन्न था। २२ जून १९४१ को द्वितीय महायुद्ध का रूपान्तर हुआ तो देश-देश के अनेक कवि इस भाव-सकट से मुक्त होकर नूतन काव्यसृष्टि मे प्रवृत्त हुए। भारत मे ९ अगस्त १९४२ विशेष रूप से एक नई ही प्रेरणा लेकर आया। जब महात्मा गाँधी के पथ-प्रदर्शन मे कांग्रेस ने 'भारत-छोडो' प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए भारत को अंग्रेजी साम्राज्य की गुलामी से मुक्त करने का निश्चय किया। बंगला साम्प्रतिको मे कुछ कवि ऐसे भी थे जिनका

१ वही, पृष्ठ ६८९

भाव-संकट न २२ जून १९४१ को दूर हुआ, न ९ अगस्त १९४२ को। जहां तक द्वितीय महायुद्ध का सम्बन्ध है, यदि किसी भी भारतीय भाषा के कवियो को थोडा-बहुत समीप से इसकी एक झलक देखने का अवसर मिला तो वे बँगला कवि ही थे। अवश्य ही इन कवियो मे से किसी-किसी ने यह अनुभव किया कि कविता की साधना कला की अभिव्यंजना-शैली की साधना मात्र नही है। अत हम देखते है कि यदि इनम से कोई जागरूक कवि परी-कहानी के ताने-बाने से काम लेते हुए कविता मे नवीन जीवन-सत्य को स्था-पित कर रहा है तो किसी की कविता मे सीधे जन-सघर्ष से प्रेरणा मिल रही है। आज का जागरूक बगला कवि यह समझने लगा है कि कविता की मौलिक समस्या तो दृष्टिकोण है, अभिव्यंजना शैली नही। वह खूब समझता है कि टेकनीक के अधीन होना घातक होगा। वह यह भी समझने लगा है कि कविता मे रूप और भाव अविच्छिन्न वस्तुएं है। नाना द्वन्द्वो मे घिरा हुआ बगला कवि आगे बढ रहा है। वह जटिलताओ और नाना सत्यो के द्वन्द्वो से घबराता नही। वह अपना दायित्व समझता है द्वन्द्वो को समन्वित करना और आगे बढते चले जाना। यह और बात है कि कुछ कवि ऐसे भी हैं जो आज भी द्वन्द्वो के समन्वय की बात भूल कर, बल्कि अपने पाठको तक को तिलाजलि दे कर एक प्रकार की एकांतिकता के साधक बने हुए हैं उन की कविता मे टेकनीक के जाल मे सत्य को फांसने की हास्यास्पद प्रतिक्रिया रहती है। पर ऐसे कवियो के बीच से वे कवि उभरते नज़र आते हैं जो निर-र्थक प्रयोगवाद की दलदल मे नहीं गिरते, जिन्हे बस अपनी बात कहने की उत्सुकता है, वह भी ऐसी भाषा मे जो एकमात्र कवि की भाषा न होकर समूचे समाज की भाषा है, जिस पर कवि की छाप तो है ही, पर जो कवि के कुण्ठित अहं की प्रतीक न होकर स्वच्छन्द मानवता की आवाज को प्रस्तुत करती है, जिसकी धमनियो मे नया रक्त बहता है, जिसका अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है।

हिन्दी कविता की बात छोड कर बँगला कविता की बात विस्तार से कहने का एक ही कारण है कि हिन्दी की छायावादी और रहस्यवादी कविता की मूल-प्रेरणा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से प्राप्त हुई थी। रवीन्द्रनाथ के पश्चात् जो समस्या बँगला कवियो के सम्मुख उपस्थित हुई, वही हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओ के कवियो के सम्मुख भी उपस्थित हुई। इस

समस्या को हर कही प्राय समान रूप मे समझाने के यत्न किये गये। हिन्दी कवियो मे किस प्रकार पन्त ने अपनी लेखनी-द्वारा 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' प्रस्तुत की, यहां भी नूतन काव्य-आन्दोलन की छाप देखी जा सकती है। निराला ने अपनी अनेक रचनाओ मे नूतन अभिव्यंजना-शैली मे नूतन जनोपयोगी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। निराला कही भी डगमगाता नहीं। उसका पथ उसके सम्मुख स्पष्ट है। पर कुछ आलोचको के मतानुसार 'स्वर्णधूलि' 'स्वर्णकिरण' मे पन्त आगे बढ़ने की बजाय पीछे को मुड़ गये है। इसी प्रकार 'इत्यलम्' के कवि की चर्चा करते हुए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है—"अभिजात वर्ग की कला की अन्तिम परिणति दुर्बोधता मे होती है। पश्चिम मे इसके उदाहरण जैम्स जॉयस, इलियट और ऐजरा पाउन्ड हैं। इसी दुर्बोधता की ओर हिन्दी के आत्मवादी लेखक भी जा रहे है। उनकी शृंगार की चरम सीमा दुर्बोधता है, क्योंकि वे जनता को घृणा और उपेक्षा से देखते है। उनकी कला का ध्येय विचारो का आदान-प्रदान न होकर आत्माभिव्यक्ति है। वे यायावर है। उनकी रचनाओ के नाम 'इत्यलम्' और 'मिट्टी की ईहा' होते है, जिन्हे समझने के लिए आपको कोष साथ बांध कर चलना चाहिये—इसी कला का उद्घाटन 'प्रतीकवाद' और 'प्रयोगवाद' के रूप मे एक लम्बे अरसे से हिन्दी मे हो रहा है। 'अज्ञेय' इस विचारधारा के बिन्दु है। इस केन्द्र के इर्द गिर्द समय-समय पर अनेक नये कवि और कलाकार खिचते है, किन्तु थोथे आत्मवाद और प्रयोगवाद से उन्हे संतोष नही होता, और वे अधिक सामाजिक विचारधाराओ से सम्बद्ध होते जाते हैं। इस प्रकार 'तार-सप्तक' के कवियो मे अकेले 'अज्ञेय' ही आज इस आत्मवादी कला का झंडा ऊचा रखे हुए है 'इत्यलम्' का कवि सामाजिक प्रगति की शक्तियो से कटा हुआ अलग रहना है, इसीलिए वह पख-कटे पक्षी के समान है। जिस वर्ग की ओर वह आशा से देख रहा है, वहा अभी तक वह अपने लिए स्थान नही बना पाया है, और सर्वहारा के साथ तो उसके समान सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए कोई स्थान हो ही नही सकता। इसीलिए 'अज्ञेय' का साहित्यिक व्यक्तित्व अधर मे झूलते 'त्रिशकु' के समान वह सूनापन और एकाकीपन जो 'अज्ञेय' के पूरे साहित्य मे मिलता है, जो उसके कुठित व्यक्तित्व का पारिचायक है, समस्त पच्चीकारी और मीनाकारी के बावजूद प्रकृति और पेम-सम्बन्धी रचनाओ मे भी प्रकट होता है।

नेमर के फूल का वर्णन मानो कवि का ही वर्णन है... कवि का उद्धत अहम् प्रेम के अन्यतम क्षणों मे भी नही परास्त होता 'बाहु मेरे के रहे' शीर्षक कविता मे 'अज्ञेय' लिखते है—'नही मुझ मे तीव्र कोई अह की अभिव्यजना जागी, नही चाहे, प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की, यह स्वाभावेक ही है कि ऐसे अहम्वादी कवि के मन मे यह सन्देह है कि उसके प्रिय तक उसकी वाणी पहुचती भी है या नही। तभी वह समर्पण मे कहता है—'सुनो कैरा सुनो, क्या मेरा स्वर तुम तक पहुचता है ?'"[1]

बंगला और हिन्दी मे ही नही, भारत की प्रत्येक उन्नत प्रान्तीय भाषा की नूतन कविता मे आज एक ही समस्या कवि के सम्मुख उपस्थित है। दुर्बोध और जटिल प्रतीको और भावचित्रो द्वारा आत्मकेन्द्रिक, ह्रासोन्मुखी कला को आगे बढ़ाने का व्यर्थ प्रयत्न किया जाय या सचमुच स्वस्थ जनसम्पर्क द्वारा प्राणवान कला को अग्रसर किया जाय, जिसके साथ-साथ इतिहास के पहिये भी आगे बढ़ें, जिसकी प्रेरणा से पुराने चेहरे खुद-ब-खुद उतरते चले जाय, जनता और सस्कृति के बीच के पर्दे गिर जायं, जिसके प्रकाश मे जनता स्वय देख सके कि कौन अतीत है और कौन भविष्य, और जिसके तार-तार से यह आवाज निकल रही हो,—कब तक तुम परम्परा के मुर्दा अगो को थामे रहोगे ? इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना आज का नूतन कवि आगे नहीं बढ सकता। सचमुच यह सौ प्रश्नो का एक प्रश्न है, जिसे सुना-अनसुना नहीं किया जा सकता। नई शैली की कविता मे आज सर्वत्र यही प्रश्न गूज उठा है, इस नूतन कविता-आन्दोलन के साथ मेरा सम्पर्क पहले से कही गहरा हो चुका है, यही कारण है कि मै आज अपनी रचनाओ के लिए आलोचक के सामने पहले से कही अधिक जवाबदेह हूं।

२

इलियट की प्रसिद्ध कविता 'दि वेस्टलैंड', जिसे कवि ने सन् १९२१ म प्रस्तुत किया था, प्रथम महायुद्धोत्तर-काल के विनाश-चिह्नो की कविता है। कवि ने देखा कि सभी कुछ आधारहीन हो चुका है और समूचा यूरोप ताश

---

१ प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'इत्यलम्'—अभिजातवर्ग की ह्रासोन्मुखी कला, नया साहित्य जुलाई, १९४९

के पत्तो के घर के समान ढह चुका है। जैसा कि स्वयं कवि ने स्वीकार किया है उसे इस कविता का शीर्षक तथा इसने अनेक प्रतीक कुमारी एल० वैस्टन की पुस्तक 'फ्रॉम रिचुअल टु रोमांस' (धार्मिक अनुष्ठान से वीरगाथा की ओर) से प्राप्त हुए थे। फ्रेज़र की मनुष्य-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक 'दि गोल्डन बावो' (सुनहरी टहनी) से भी कवि को भावचित्रो के निर्माण मे सहायता मिली थी। शेक्सपीयर और बोदलेयर की कुछ पंक्तिया हू-ब-हू उठाकर रख दी गई है। 'इनफरनो' के अतिरिक्त उपनिषद् और बुद्ध-प्रवचन की प्रतिध्वनि को भी भुलाया नही गया। इङ्गलैण्ड के युद्धोत्तरकालीन साधारण बोलचाल के शब्द भी, जिन्हे इससे पहले कभी साहित्यिक पदवी नही मिली थी, कवि की लेखनी को छू-छू जाते हैं। इस कविता मे टायरेसिया[1] का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके विषय मे कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि वह एक दर्शक मात्र है और वस्तुत इस कविता के पात्रो मे उसका समावेश नही किया गया। फिर भी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है और सभी पात्रो को एक सूत्र मे पिरोता है। वह जो कुछ देखता है वही कविता का सार है। जैसा कि कवि ने ज़ोर देकर कहा है—'टायरेसिया का हृदय दो जीवनों के बीच स्पन्दित हो रहा है—एक वयोवृद्ध जिसके शरीर पर झुर्रियोवाले उरोज हैं।' इस प्रकार टायरेसिया युग-सन्धि का व्यंग्य चित्र है जिसे दो युगो का खिचाव अनुभव हो रहा है।

टायरेसिया के समान आज का कवि जीवन के दोराहे पर खडा है। एक ओर अतीत है, दूसरी ओर वर्तमान। एक दर्शक के समान वह अतीत को लाँघता हुआ वर्तमान की दलहीज पर आ खडा हुआ है और सोचता है कि वह स्वयं उस अवसर पर उपस्थित था जब सर्वप्रथम वैदिक कवि गुनगुना उठा था—

"साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, साथ-साथ अपने मन को मिलाओ

---

१ यूनानी गायक जो अकस्मात् ज्ञान और कला की देवी एथिना को स्नान करते देखने के कारण उसका कोपभाजन बन गया था और एथिना ने उसकी आँखो पर पानी के छींटे मारते हुए उसे एकदम अन्धा कर दिया था और फिर देवी एथिना ने भूल का प्रायश्चित्त करते हुये उसे भविष्यवक्ता बना दिया था।

क्योंकि देवता भी एक होकर अपना भाग ग्रहण करते हैं।

"हमारा मन्त्र समान है, हमारी समिति समान है और हमारे मन और चित्त समान हैं।

"हम समान रूप से मन्त्र पढ़ते हैं, समान रूप से आहुति देते है, हमारे सकल्प और हृदय समान हैं, हमारे मन समान है जिससे सबका ऐक्य होता है।"[1]

फिर वह सोचता है कि वर्तमान की आवाज़ तो इससे एकदम भिन्न है। बार-बार उसे आर्य-सभ्यता के उस पुण्य-युग की याद आती है जब उसने स्वयं वैदिक कवि के मुख से सुना था—

"भूमि स्वय क्षमा का रूप है।

"प्रत्येक प्राणी दाहिनी और बाईं करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का बिछौना बनी है।

"भद्र और अभद्र दोनो की मृत्यु उसकी गोद मे होती है।"[2]

वह एकदम भय से कांप उठता है जब उसे ध्यान आता है कि किस मुँह से भूमि मानव को क्षमा कर सकती थी जब उसने हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु बम गिरा कर लाखो प्राणियो का संहार किया था। वह सोचता है कि उसने स्वयं अपने कानो से वैदिक ऋषि के मुख से यह वाणी सुनी थी कि हमारे पूर्वजनो ने ही तो शत्रुओ को पराजित करके पृथ्वी को शत्रुरहित बनाया और अपनी विजय-दुंदुभी बजाई (यस्यां वदति दुंदुभिः)।[3] वर्तमान पर विचार करते हुए उसे लगता है कि उस दुंदुभी के स्वर व्यर्थ चले गये, क्योंकि आज भी मानव को मित्रो से कहीं अधिक शत्रु ही नज़र आते हैं। टायरेसिया का मस्तिष्क फिरकी की तरह घूमता है, कभी पीछे की ओर, कभी आगे की ओर। वह सब जानता था कि वैदिक कवि कुछ भी कहता रहे भविष्य के गर्भ मे तो दूसरी ही भावनाए करवट ले रही हैं। उसने स्वयं सम्राट् अशोक को कलिग-युद्ध के पश्चात् युद्धविरत होकर गिरनार के १३ वें शिलालेख पर वह लिखवाते देखा था—'मनुष्यो का वध, मृत्यु तथा देश-

---

१ ऋग्वेद १०, १९१, २-४

२ पृथिवीसूक्त, २९, ३४, ४८

३ वही, ४१

निष्कासन देवानां प्रिय द्वारा कष्टदायक तथा अप्रीतिकर माना गया (वधसे मरण व अपबाहो व जनरु)।' पर उसने उसी समय यह बात कह दी कि देवानां प्रिय भूल कर रहे है यदि वह सोचते है कि अब कभी युद्ध नही होगा।

टायरेसिया ने ईसवी प्रथम शताब्दी मे महान् कवि नाट्यकार अश्वघोष को देखा था। उसने अश्वघोष से उसी समय कह दिया था—अभी तो कवि आर्यशूर और नाट्यकार भास का जन्म शेष है। अगली दो शताब्दियो मे उसने आर्यशूर और भास को लेखनी आज़माते देखा। उसने आर्यशूर और भास से साफ-साफ कह दिया था कि अभी तो कालिदास का जन्म शेष है। चौथी-पाँचवी शताब्दी की सन्धि मे सर्वश्रेष्ठ कवि और नाट्यकार कालिदास ने साहित्य की बागडोर सँभाली। उसने कालिदास से भी कह दिया था कि अभी तो दडी और बाण आनेवाले है। छठी-सातवी शताब्दी मे उसने दंडी और बाण से भेंट की और उनसे कहा—मै प्रसन्न हूँ कि आप अपनी प्रतिभा का एक नये क्षेत्र मे उपयोग करने जा रहे हैं, आनन्दपूर्वक गद्य-काव्य उपन्यास लिखिए, पर अभी गद्य-साहित्य के युग के आने मे बहुत देर है! टायरेसिया को इतिहास के पहियो की गतिविधि कभी नही भूलती। वह खूब देख चुका है कि किस प्रकार भारत अनेक शताब्दियो तक केवल एशिया ही नही, समूचे तत्कालीन सभ्य जगत् के लिए प्रकाश फैलता रहा। क्या तिब्बत और मगोलिया, क्या हिन्दचीन और हिन्देशिया—सभी स्थानो मे भारत का ज्ञान-प्रसार एक अद्वितीय उदाहरण के रूप मे अग्रसर होता रहा। टायरेसिया इन शताब्दियो के महान् संस्कृति-प्रभाव को देखते हुए यह भी जानता था कि यही लोग जो आज प्रकाश फैलाने निकले है, कल अन्ध अभिमान और कूप-मंडूकता के शिकार हो जायँगे! पर जब भारत विश्व की दौड मे पीछे रह गया, टायरेसिया ने फिर से देश के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की। उसे मालूम था कि अनेक प्रान्तीय भाषाएँ जनता की भावनाओ का सफल माध्यम बनेगी। किस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी क्रमश बँगला और गुजराती-साहित्य को शक्ति प्रदान करेगे और उसकी वाणी का प्रभाव समूचे भारत की साहित्य-धारा पर पड़ेगा, टायरेसिया तो यह बात बहुत पहले ही मालूम हो गई थी। किस प्रकार हिन्दी की शक्ति बढ़ेगी और राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होगी, यह भी टायरेसिया ख़ूब जानता था। रवीन्द्र-गांधी-विचारधारा पर टायरेसिया को गर्व है, पर इसका यह अर्थ नही कि अब

वह भविष्य-द्रष्टा नही रहा। आज भी उसकी आँखे वर्तमान के छोर को चीरती हुई भविष्य मे झाँक रही हैं।

कविता का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आज के कवि को भी वैसे ही झँझोड़ रहा हैं जैसे यह आधुनिक कविता के आलोचक और पाठक का ध्यान खीचता है। डा० अब्दुल अलीम ने बम्बई मे चौथे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन मे भाषण देते हुये ठीक ही कहा था—"हमे समझना चाहिए कि हम जनता के आन्दोलन के जितना ही पास जाते है, हमारा साहित्य उतना ही ज्यादा गहरा और अमर पैदा करनेवाला होता है। अख़बार की ख़बरो पर लिखी गई कहानियो मे कोई दम नही होता। कोई चाहे तो मध्यवर्ग के जीवन पर ही लिखे, लेकिन ऐसे साहित्य मे इतना ज़रूर होना चाहिए कि उससे आज के मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधो की झलक मिले। प्रगतिशील लेखको पर ऐसी कोई कैद नही है कि वे हर हालत मे किसानो और मज़दूरो पर ही लिखें।"[1] जो समस्या कहानी-लेखक की है वही बहुत-कुछ कवि की भी है। कहानी और कला की अभिव्यजना-शैलियां कितनी भी पृथक् क्यो न हो, दृष्टिकोण का प्रश्न तो कवि और कहानी-लेखक के सामने बराबर है।

जहाँ प्रगतिशील दृष्टिकोण की महत्ता स्वत सिद्ध है, वहां अभिव्यजना-शैली की सफलता के प्रयास भी आवश्यक हैं, जैसा कि आधुनिक बँगला-साहित्य की चर्चा करते हुए श्री अमरेन्द्रनाथ मित्र ने लिखा है—"बहुत-से मार्क्सवादी साहित्यिको मे एकाग्र कला-साधना का एकदम अभाव है। बहुत-से रास्ते ही मे बाज़ी मारना चाहते है। बहुत-से लोग टेकनीक और कला-कौशल पर अधिकार करना नही चाहते। वस्तु जगत् के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और प्रगतिशील अनुभव भी बहुतो मे नही है। उनमे से अनेक ने दूसरो की चेतना को प्रभावित करने की क्षमता को प्राप्त नहीं किया है।"[2]

स्पष्ट है कि कवि को आज बहुत जागरूक रहने की आवश्यकता है। उस की पृष्ठभूमि मे उसकी जन्मभूमि का ही इतिहास तो रहेगा ही। लोककथा और लोकगीत मे अंकित जन-मन के अनगिनत भावचित्र भी उसके सम्मुख

---

१ हंस, जुलाई १९४९, पृष्ठ ५९७

२ हस, अप्रैल १९४९, मे श्री वीरेन पाल द्वारा 'बंगला-साहित्य की कुछ धाराए' शीर्षक लेख मे उद्धृत, पृ० ३७१

उपयुक्त अवसर पर स्वयं थिरक उठे और उसकी प्रेरणा को नया रूप दे, यह भी आवश्यक है। अच्छा हो, यदि विश्व-साहित्य की प्रगति का भी उसकी पृष्ठ-भूमि में समावेश हो जाय। वही तो आज टायरेसिया भी कहना चाहता है। कवि सुने न सुने, टायरेसिया का तो यह कर्त्तव्य है कि वह कवि तक अपनी आवाज़ पहुँचाता रहे। टायरेसिया तो किसी भी साहित्यकार की प्रतिभा का प्रतीक है। वह सदा उसके निकट रहता है।

एक स्थल पर आधुनिक बँगला कवि विष्णु दे कह उठते हैं—

चम्पा तोमार मायार अन्त नेइ
कतो ना पारुल रांगानो राजकुमार
कतो समुद्र कतो नदी होलो पार
विराट् बांगला देशेर कतो ना छेले
अवहेले सय सकल यंत्रणाइ—
चम्पा जखन जागबे नयन मेले।

—'चम्पा तुम्हारी माया का कोई अन्त नहीं है
कितने पारुल को प्रेम से अनुरंजित करनेवाले राजकुमार
कितने समुद्र, कितनी नदियां पार हो गये
विराट् बंगाल देश के कितने लड़के
सभी यातनाओं को उपेक्षा के साथ सहन करते हैं
इस आशा में कि चम्पा अब आँख खोलकर जाग उठेगी।

यहाँ विष्णु दे बंगाल की पूरी कहानी में नूतन प्राण-प्रतिष्ठा करने में सफल हुए हैं। जनता की आशा को वे अपनी विशिष्ट शैली में झंझोड़ते हैं। यह तो आवश्यक है कि कवि भीड़ में खड़ा होकर भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाये रखे।

गुजराती कवि सुन्दरम् अहमदाबाद पर व्यंग्य कसता है—

अम्दाबादना शहेरमां भाई
शेठिया लोकनी मंडली भाई

सौ-सौ मील चलावे
भारत-केरा गामडामां भाई
राम ना राज मा मानस ने भाई
चीथरूं हाथ न आवे !
—'अहमदाबाद के शहर मे, भाई !
मेठ लोगो की मंडली, भाई,
सौ-सौ मिले चलाती है
भारत के ग्रामो मे, भाई,
राम के राज्य मे मनुष्य को, भाई
चिथडा भी हाथ नहीं आता !'

गुजराती कवि 'स्नेहरश्मि' ग्रामो की इसी भूखी जनता की ओर देखते हुए कहता है—

मूगु हल खेडुत नो बोले
एरण जागी आँखो खोले
पीडित धरती अन्तर खोले
प्रगटे नवी चीनगारी
रे पलटे अवनि सारी
—'किसान का गूंगा हल बोले
लुहार का एरन आँख खोले
पीडित धरती हृदय खोलकर दिखाये
नई चिनगारी पैदा हो
रे सारी धरती पलटे ।'

मराठी कवि यशवन्त थोडा आगे बढकर कहता है—"सिंहासन पर की कठपुतली को खेतो का स्वामी नमस्कार करता है । पर मैने तो सच्चा भूपति ढूंढ लिया है । उस खेतिहर भूपति के लिए मैंने अपना नमस्कार रख छोडा है।"

एक और स्थल पर आज का मराठी कवि कह उठता है—

"ओ रेलगाडी ! कब तक तू इस सुरंग मे खडी रहेगी ?"

किसान की आवाज़ में ऐसे अनेक प्रश्न भी उभरते हैं। रेलगाड़ी को तो आगे चलना ही चाहिए। रुकना तो जीवन-ध्येय नहीं।

'कुकुरमुत्ता' में निराला की लेखनी हिन्दी कविता में सामाजिक व्यंग्य के नये रंग प्रस्तुत करती है—

चुन्ने खाँ के हाथ का मैं हो सितार,
दिगम्बर का तानपूरा, हसीना का सुरबहार।
× ×
कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर,
टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़नेवालों ने जिगर पर हाथ रखकर
हाथ कहा, 'लिख दिया जहाँ सारा'
× ×
प्रोग्रेसिव का जैसे कलम लेते
रोका नहीं रुकता जोश का पारा।
× ×
गोली की माँ बंगालिन, बहुत शिष्ट
पोयट्री की स्पेश्यलिस्ट,
बातों में ज्यों मजती थी,
सारङ्गी वह बजती थी।
× ×
चली दोनों जैसे धूप-छाँह,
गले गोरी के पड़ी बहार की बाँह।
× ×
सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद मैं ही शाम का!

टायरेसियास सब सुनता है। वह सब पहले से ही जानता है कि आज कवि क्या कहने जा रहा है। वही तो जाने-अनजाने कवि को गुदगुदाया करता है। देश का चित्रण बहुत कर चुके, वह कवि से कहता है, पास-पड़ोस

के देशों की ओर तो देखो। उर्दू कवि अली सरदार जाफरी जैसे ऐसे ही किसी परामर्श की प्रेरणा से चीन के सम्बन्ध मे कहता है—

इन्कलाब अब कहाँ है
—कौन-सी वादियो मे
—कौन-सी मजिलो मे
मेरे शौक का कारवाँ है ?
रूस भी अब सुर्ख़रू और यूरोप का मशरिक भी गुलनार है
हम भी इस जाने असरे रवाँ के लिए
अपनी आँखे बिछाये हुए है
अपने जख़्मो की पोशाक पहने खडे हैं
अपने ख़्वाबो की शमआ जलाये हुए हैं।

मैने तारीक रातो के रोशन सितारो से पूछा
बर्क रफ़्तार लमहो के उडते शरारो से पूछा
इन्कलाब अब कहाँ है
आफताब अब कहाँ है
"चीन मे !"
—कोहसारो से आवाज़ आई
मर्गज़ारो
गर्जते हुए आबशारो
दहकते हुए लालाजारो से आवाज़ आई !

"चीन मे, चीन मे !"
वादियाँ गूँज उठी
कोह की चोटिया गूँज उठी
नदियां चीन का नाम लेकर समुन्दर मे दौडी
चीन का नाम लेकर समुन्दर मे काली घटाएं उठी
शर्क और गरब
चीन का नाम बारिश और कतरो की सूरत मे टपका

प्यासी धरती ने इस नाम से अपने लब तर किये
और किसानो ने खेतो को सींचा
कोपले नर्म मिट्टी से इस नाम को अपने दिल मे छिपाकर उगी
और यह नाम सौ फूल बनकर खिला
शहद और इत्र और रंग बनकर ज़माने मे फैला
हवाओ मे लहराया
शोलो मे लपका
और एक आतशी दास्ता बन गया
साफ कागज ने इस नाम को अपने पाकीजा दिल पर लिखा
परचमो ने इसे अपनी पेशानियो पर सजाया
और साज़ो ने गाया
अब हवा—
चीन के नाम पर गुनगुनाती है
और अब फ़ज़ा—
चीन के नाम पर मुस्कराती है
और कुर्रए अरज़ के शायरो के लिए
चीन सब से बडा गीत, सब से हसी नज्म है
चीन इक वलवला, इक उमंग और इक अज्म है
चीन इक वली है, एक उपदेश है, एक पैगाम है
एशिया के लिये एक इनआम है ।

× ×

मौत और खून की फतह करते चलो
चीन की सरज़मीं
एक कालीन की तरह क़दमो के नीचे बिछी है
शहर और गाँव शरबत के लबरेज़ प्याले हैं
जो वादियो और मैदानो की
किश्तियों मे सजाये गये है
एक-एक करके इनको उठा लो
अपनी सदियों की प्यास अब बुझा लो ।

अली सरदार जाफरी ने मुक्त छन्द के अनेक सफल प्रयोग किये है, जिनमे एक पहाडी नदी का सा बहाव है, दृष्टिकोण स्पष्ट है। निस्सन्देह उन पर रूसी कवि मायकावस्की का सब से अधिक प्रभाव पडा है जिसने यह बात ज़ोर देकर कही थी—"साहित्य-क्षेत्र मे केवल स्वस्थ दृष्टिकोण से काम नही चलेगा, मुझे अपनी कला और उसकी अभिव्यजना को अपने साहित्यिक प्रतिद्वन्द्वियो के स्तर तक उठाना होगा।"

आज के कवि के लिए सचमुच यह आवश्यक हो गया है कि वह विश्व की कविता का अध्ययन करे। इससे कवि के सम्मुख नये क्षितिज उभरते है, उसकी आँखें अधिक देख सकती है, मस्तिष्क अधिक सोच सकता है। हा, उसमे अनुकरण-प्रवृत्ति का ख़तरा अवश्य है, जिससे एक जागरूक कवि सदैव बच सकता है। यह भी आवश्यक है कि विभिन्न कवियो के सम्बन्ध मे इन्हे पर्याप्त ज्ञान हो।

'पाजामा-धारी बादल' शीर्षक कविता मायकावस्की ने सन् १९१४ मे जब लिखी थी, जब उसकी आयु बाईस वर्ष की थी। विध्वंसक क्रियाशीलाओं मे भाग लेने के अपराध मे उसे अडीसा के कला-विद्यालय से निकाल दिया गया था। वही मेरिया से उसका प्रेम हो गया जो बुद्धि और सौदर्य मे असाधारण थी। पर मेरिया के साथ उसका प्रेम असफल रहा। उससे कवि का मानसिक सतुलन जाता रहा। भावना के अतिरेक मे उसने जलते-उबलते मन से इस कविता की रचना की—

तुम इसे व्यर्थ प्रलाप समझोगे
पर यह एक घटना है
यह अडीसा की घटना है
'मैं चार बजे तुम्हे मिलने आऊंगी,' मेरिया ने कहा
आठ
नौ
दस
और तब—

रात के बारह बजे की अन्तिम टन-टन कुछ इस प्रकार शून्य मे

गिरती हुई-सी अनुभव हुई—
जैसे सूली से अपराधी का सिर

× × ×

रात का अँधेरा कमरे मे उभरता चला आ रहा
पर मै अपनी जागती और बोझिल आँखो को
अंधेरे मे अटी हुई गली से हटा नही सकता

× × ×

सहसा दरवाज़े ने अँधेरे मे दाँत कटकटा कर अपना जबडा खोला

× × ×

तुमने बडे बेनियाज़ अन्दाज़ मे प्रवेश किया
स्वीकृति और अस्वीकृति से बेपरवाह
और हाथ मे थामे हुए दस्तानो को तोडते-मरोडते हुए कहा—
"शायद तुम्हे विश्वास न आये—पर
यह सत्य है कि मै विवाह कर रही हूँ।"
तो क्या?
कर लो विवाह
मुझे अपनी भावनाओ पर अधिकार है
देखो, मै बिलकुल शांत हूँ
यद्यपि यह शान्ति लाश की नब्ज की शान्ति है

× × ×

मेरी प्रशंसा करो
ससार के महान् व्यक्तित्व मेरे पासंग भी नही
अपने से पहले आनेवाली प्रत्येक वस्तु पर
मै अस्तित्व की मुहर लगाता हूँ

× × ×

मेरे पैर मे चुभनेवाली जूते की एक कील
गेटे के भयानक कल्पना-चित्र (फाउस्ट) से अधिक नही है

× × ×

मैं वह देख रहा हूं, जो किसी को दिखाई नहीं दे रहा
समय के शिखरों के ऊपर से आते हुए
(जहां भूखे हूणों के सिरों की लहरें
—आदमी की नज़र को काट देती है)
क्रांति के काटोंवाले ताज को पहने
मैं सन् १९१६ को उभरते देख रहा हूँ
और मैं—तुम्हारे बीच उसका सन्देश-वाहक हूं
जहां कहीं दर्द है वहां मैं हूं
हर उस आंसू पर जो बहाया जाता है
मैं अपने को सूली पर लटका हुआ अनुभव करता हूँ।

एक प्रकार से मायकावस्की ने इस कविता में प्रथम महायुद्ध के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। युद्ध का रक्तपात आरम्भ हुआ तो उसने 'अपने उच्चतम स्वर में' शीर्षक कविता में कहा था—

सुनो !
आगामी पीढ़ियों में आनेवाले सम्मानित साथियो !
वारिसो !
हमारे युग में जमी हुई मलिनताओं की तह उलट कर
अन्धकारमयी और मृतप्राय शताब्दियों में से हमारे समय की
ओर निहारते हुए
सम्भव है, तुम मेरे—अर्थात् मायकावस्की के सम्बन्ध में पूछो
और तुम्हारे ज्ञानी
पुस्तकीय ज्ञान की दलदल में कुलबलाते हुए
यह रहस्योद्घाटन करें
कि किसी समय एक आग्नेय गायक था
जिसे गतिरोध से घोर घृणा थी।
प्रोफेसर !
अपनी आँखों से ऐनक उतार दो
मैं तुम्हें अपने युग और अपने सम्बन्ध
स्वयं बताता हूं

मैं दारोगा सफाई और पानी ढोनेवाला भिश्ती हूँ
जिसे क्रान्ति ने मोरचे पर नियुक्त किया है।

यह कविता काफी लम्बी है। इसमें हमें मायकावस्की की कला का पूरा परिचय मिलता है। २५ मार्च १९३० को, जब रूसमें मायकावस्की-दिवस मनाया गया था, कवि ने एक सभा में स्वयं यह कविता पढ़कर सुनाई थी। पर उस समय यह अपूर्ण ही थी। इसके बीस दिन बाद १४ अप्रैल की रात को मायकावस्की ने रिवाल्वर से आत्महत्या कर ली और यह कविता अधूरी ही रह गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मायकावस्की को अपने देश के अनेक कटु आलोचकों का सामना करना पड़ा था जो उसे अन्त तक पहचानने में असमर्थ रहे, और शायद आत्महत्या का बड़ा कारण यही था, पर अन्तर्राष्ट्रीय कविता के इतिहास में वह चिर-स्मरणीय रहेगा।

१० जून १९४० को फासिस्ट अन्धकार के काले आवरण के नीचे फ्रान्स पर 'श्मशान-सा मौन' छा गया। फ्रान्स के जनवादी कवि लुई आरागों ने आशा और विषाद के स्वर छेड़ते हुए कहा—

सुदूर देश में खाली हाथों
मैं फ्रान्स को खोज रहा हूँ
इस अनन्त रिक्त में

आधुनिक फ्रांसीसी कविता की चर्चा करते हुए फ्रांसीसी आलोचक ई० एफ० ई० शिओन ने ठीक लिखा है—"जैसा कि जर्मन कवि होलुएमन ने कहा है—'सम्भवतः आरागों भी यह मानते हैं कि सम्पूर्ण मानवता से प्रेम वही कर सकता है, जिसने कभी किसी व्यक्ति से प्रेम किया हो।' आरागों प्रारम्भ में 'सुरियलिस्ट' कवि थे। कल्पनामूलक लाक्षणिक अभिव्यंजना ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय थी। स्वाधीनता-संग्राम के विद्रोह-गान लिखते समय भी उन्हें इस शैली से सहायता मिली, क्योंकि शत्रु के लिये लोक रूपकों का अर्थ सहज नहीं था जिन्हें आरागों झट अपनी कविता में स्थान दे देते थे। आरागों ने फ्रान्स के परम्परागत छन्दों और फ्रान्सीसी लोकगीतों की लयों को भी बड़ी कुशलता से अपनाया, जिससे वे फ्रांसीसी हृदय के सर्वप्रिय कवि बन

गये। एक विख्यात् कविता में आरागो कहते हैं—

प्रिये, जब मैं तुम्हारे बाहुपाश में था
तब बाहर कोई गुनगुना रहा था
एक पुरातन फ्रांसीसी गान
आज अब मैं समझ गया
कि मेरे मन में क्या बात है—
उस गान की कड़ी ने एक नंगे पैर के समान
मेरे मौन के हरे जल को प्रकम्पित कर दिया।

'नंगा पैर' स्पष्टत फ्रांस की नग्न वास्तविकता का प्रतीक है, और कवि का मौन समूचे फ्रांस का मौन है जिसे फ्रांसीसी गान में मुकुलित फ्रांस के पुरखाओं की आवाज़ ने झकझोर दिया।

इस प्रकार देश-देश में कवि ने यह भावना प्रतिध्वनित की है कि विजय और पराजय तो मानव के अपने हाथ में है। हां, यह तो आवश्यक है कि वह अन्याय के सामने सिर न झुकाये, जन्मभूमि के गौरव और मानवता के विजयघोष को वह अन्याय के सदैव अपने सम्मुख रखे।

मित्रता के सौ सामान हैं। फिर भी विश्व-शान्ति हरदम खतरे में है। एक महायुद्ध के पश्चात दूसरा महायुद्ध आया। अब क्या तीसरा महायुद्ध भी आवश्यक है? युद्ध क्यों होते हैं? क्या युद्ध-भावना का अन्त नहीं किया जा सकता? ये प्रश्न आज का कवि सुने-अनसुने नहीं कर सकता। शायद कोई कवि से कहे कि युद्ध तो आर्थिक परिस्थितियों की उपज है, तुम इस में मत उलझो। पर कवि को चिन्तन से कौन रोक सकता है और यह तो आवश्यक है कि आज उसका चिन्तन पलायन के पथ पर न चले। कवि की बगल में बैठा हुआ टायरेसिया कह उठता है—यह तो अणुबम का युग है। हिरोशीमा और नागासाकी पर अणुबम गिराये जाने से पूर्व ही मैं जानता था कि हिंसा क्या रूप धारण करनेवाली है।

एक ऐसे विश्व की स्थापना, जिसमें सभी देश बराबर के हिस्सेदार हों, जिसके संरक्षण में प्रत्येक देश नये समाज को जन्म दे सके—यही तो आज के कवि का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है। और दो युगों के बीच का खिंचाव

अनुभव करता हुआ टायरेसिया कवि के चिन्तन और काव्य-सृजन मे सहायक हो सकता है।

३.

अब कुछ 'बन्दनवार' के सम्बन्ध मे कहना उपयुक्त होगा। इस संग्रह की प्रत्येक कविता दो युगो के बीच के खिचाव की कविता है इतना तो स्पष्ट है कि 'बन्दनवार' का मुख्य स्वर इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है। एक ही स्वर से तो गान की रचना असम्भव है। यह पर्याप्त है कि मुख्य स्वर को अपनी बात याद रहे और अन्य स्वरो पर छा जाने की भी उसमे क्षमता हो। जन्मभूमि मुझे प्रिय रही है। अतीत की थाती की उपेक्षा का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, पर वर्तमान और भविष्य के प्रश्न तो सुलझाने ही होगे।

बाजारो मे जो शोर आज है, वह कल से भिन्न है। इस शोर से भाग कर कवि चाहे तो एकान्तवास कर सकता है। पर यह जीवन से पलायन होगा। ये रेलगाडियो के पहियो की आवाज़े, ये मोटरो, लारियो और ट्रको का शोर, मिलो की चिमनियो से निकलते हुए धुवे और उनकी मशीनो से निकलनेवाली घरघराहट की आवाजे, जो प्रतिदिन कवि के कानो के पर्दे फाडने से बाज़ नही आती, इन्हे क्या आज का कवि सुना-अनसुना और देखा-अनदेखा कर सकता है? समुद्र मे जहाज चलते हैं, पहले से कही अधिक, पहले से कही तेज़—उन्हे भी देखा-अनदेखा नही किया जा सकता। आकाश मे वायुयान अधिक दिखाई देने लगे हैं। अब यदि उडते पक्षी के साथ-साथ वायुयान की ओर भी कवि का ध्यान चला जाय तो यह उसका अपराध नही। कारख़ानो की मशीने आज मज़दूरो के दिलो की धडकन से परिचित हो चुकी हैं—कवि को यह चित्र इस रूप मे प्रस्तुत करना होगा। होटल है, रेस्टोरा है, काफी हाउस हैं, जहां किशोर अवस्था के लडको से यन्त्रवत् काम लिया जाता है, कवि की आँख सब देखती है। हर शहर मे कई-कई सिनेमा हाउस हैं, जहा चित्रपट पर देश-विदेश के जीवन के अनेक चित्र उभरते है—इन सवाक् चित्रो की सफलता और विफलता कवि को झकझोर कर रख देती है। रेडियो भी कवि को छू-छू जाता है। विज्ञान की विजय के सम्मुख मानव नत-मस्तक है। कवि यह सब देखता है और इससे आगे की बात सोचता है तथा

कहने की चेष्टा करता है। इसके लिए नई शब्दावली चाहिए, छन्द के नये स्वरों के बिना भी बात नहीं बनती।

मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैंने छन्द शास्त्र की रूढ़ियों का अनुसरण नहीं किया। मात्राएं गिनने का न समय है, न धैर्य। इसकी मैं बहुत आवश्यकता भी नहीं समझता। जहां तुकान्त सम्भव हो सका, और इसे मैंने उपयुक्त समझा, वहां प्रस्तुत कर दिया, जहां न यह सम्भव था और न इसके बिना काम रुक सकता था, वहां इसके लिए ख्वाह-म-ख्वाह वास्तविक अभिव्यक्ति की बलि नहीं दी गई, क्योंकि प्राय. तुकान्त मिलाने के लिए मूल भाव से भटक कर अटकल-पच्चू भाव के पैवन्द लगाने पड़ते हैं, जो मुझे एकदम नापसन्द है। मैंने सदैव कानों के तराजू से ही काम लिया है। मेरी दृष्टि में परम्परा की उपयोगिता वहीं तक है जहां तक वह कला के मूल उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होती है।

इस संग्रह की 'हिन्दुस्तान', 'रेशम के कीड़े' और 'काफी हाउस' शीर्षक कविताएं सन् १९४३ में लिखी गई थीं, जब बंगाल के अकाल ने मेरी वेदना को झकझोर दिया था। इनकी रचना करते समय मैंने इस बात का विशेष ध्यान रखा था कि वे केवल सामयिक-सी तुकबन्दी बनकर नहीं रजाँ। अत यदि वे आज भी पाठक की कल्पना को छू सकेंगी तो मैं समझूंगा कि मैं वस्तुत अपने प्रयत्न में सफल हुआ हूँ, क्योंकि कविता को मैं तूफानी जल पर बहते हुए तिनके नहीं समझता। उन तिनकों में अपनी गति नहीं होती। कविता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें अपनी एक गति हो, अपना एक दृष्टिकोण, और एक चिरजीवी कलाबोध भी।

'युग जाता है, युग आता है' शीर्षक कविता दूसरे महायुद्ध का अन्त होने पर लिखी गई थी। इसी प्रकार 'मिस्रदेश' को प्रेरणा मिस्र की राजनीतिक स्थिति से प्राप्त की गई थी। 'एशिया' भी इसी श्रेणी की कविता है। इसे लिखते समय चीन के गृहयुद्ध से प्रेरणा मिली थी। 'बलिदान' गांधीजी के महाप्रयाण की कविता है।

'ब्याह में ढोल' में यंत्र-युग के बढ़ते हुए प्रसार पर एक व्यंग्य है। कवि अपनी जीवन-संगिनी को पग-पग पर इस बात का ध्यान दिलाता है कि जीवन का पुराना रेडियो अब शायद ठीक काम नहीं दे रहा, इसे और ऊँचा

करने की आवश्यकता है।

'रावण लीला', 'पुरी', 'कुल्लू का देवता' और 'ताजमहल'—इन कविताओं को व्यंग्य जीवन की गहराइयों से उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। 'फागुनी व्यंग' में भी किसी एक व्यक्ति पर छींटे कसने का यत्न नहीं किया गया। पर 'हातों' का व्यंग्य शायद सबसे अधिक गहरा है। काश्मीर का यह मजदूर जब घर से बाहर होता है, उसे अपनी गली की याद आती है, अपने घर में चलनेवाले नाटक को भी वह अपनी कल्पना द्वारा देख ही सकता है।

'शाल', 'कवि और शिरीष' 'टोडा संस्कृति', 'सरोजिनी नायडू', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे', 'भारतमाता' और 'मणिपुरी लोरी'—इन कविताओं के प्रेरणा-सूत्र सांस्कृतिक हैं, पर युग की छाया इन पर भी देखी जा सकती है। 'बन्दनवार' में कवि नये युग के स्वागत के लिए अपनी जीवन-संगिनी को सम्बोधित करता है जो अनेक वर्षों से उसकी यात्रा में साथ-साथ रही है—हाँ, यह वही प्रेयसी है जिसका एक चित्र 'प्रेयसी' शीर्षक कविता में प्रस्तुत किया गया है।

'गेहूँ की बालियाँ', 'कृष्णविहार', 'गुलमोहर के फूल', 'ख़ानाबदोश', 'सन्थाल छोरी' और 'अबाबील'—इन कविताओं के द्वारा स्थान-स्थान पर देखे हुए सौन्दर्य और कलाबोध की अभिव्यक्ति की गई है।

'गेटे' शीर्षक कविता, अन्तर्राष्ट्रीय कविता के प्रति कवि की आस्था की प्रतीक है। वस्तुतः आज का कवि यदि कोई काम की वस्तु लिखना चाहता है तो उसे अपने देश को विश्व का अंग समझकर सभी देशों के प्रति सद्भावना की प्रतिष्ठा करनी ही होगी। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए मैंने यह उपयुक्त समझा कि इस संग्रह में कम से कम सात कविताएं ऐसी भी अवश्य दी जायँ जिनके द्वारा हिन्दी पाठक यह यह देख सकें कि दूसरे देशों में आज कविता किधर जा रही है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो आज के युग में भी अध्ययन से बिदकते हैं। उनसे अन्तर्राष्ट्रीय कविता की बात कहें तो वे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उनमें कोई कवि ऐसा भी मिल जायगा जो कह उठता है—'अजी ये सब जर्द पत्ते हैं। मैं भला इन्हें क्यों चाटूं? मेरे भीतर सब-कुछ है। मैं तो भीतर ही झाँकूंगा!' पर मैं यह समझता हूँ कि यह धारणा ठीक नहीं। मानव ने देश-देश में जो कुछ उपलब्ध किया है उस पर समस्त विश्व का अधिकार है। मैं किसी से अनुकरण के लिए नहीं कहता,

र आज हमें अपनी आँखों से चतुर्दिक देखना चाहिए। अन्तराष्ट्रीय कला सिद्धि की उपेक्षा आज किसी प्रकार क्षम्य नहीं।

हाँ, कुछ तो कहो, टायरेसिया! तुम चुप क्यों हो?

देवेन्द्र सत्यार्थी

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
२५ अक्तूबर, १९४९

युगद्वार

ब्याह के ढोल

लो बजे ब्याह के ढोल और गूँजी शहनाई अलसाई-सी,
जरा रेडियो को ऊ चा कर दीजो, दुलहन !
एक हाथ पर टोडी टेके, एक हाथ से पर्दा थामे,
शायद सोच रही हो तुम—
अब कभी नही लौटेगे प्रथम मिलन के क्षण
सेमल की हल्की आवारा रूई के गालो से,
जो भी हो, ये ढोल बजेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

केसर रग रँगे ये गान और नूपुर-ध्वनि तरल जुन्हाई-सी,
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल बजें ज्यो बरसें मेघ मूसलाधार
ये ढोल सुहाने लगते जैसे वीणा की झकार
वशी की लय ठडी ओले-सी अब जमी-जमी-सी,
आलस-भरे अँधेरे में ज्यो झुक जाये दीये की बाती,
जो भी हो ये स्वर उभरेंगे, नही दबेंगे, दुलहन !

परी-कथा की राजकुमारी जागी उधर, इधर यौवन ने ली अंगड़ाई-सी,
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
यह ध्वनि जो छू-छू जाती अल्हड़ मन के तार
यह ध्वनि जो लाय आई है बीहड़ पथ कान्तार
जाने फूलों के हिय में यों मधु पराग क्यों खिल-खिल उठता ?
जाने गृहद्वार नगर वन में ये उत्सव-दीपक कौन सँजोता ?
कुछ भी हो ये भेद खुलेंगे, नहीं छिपेंगे, दुलहन !

कम्पित कंठ-गान में सहसा उभरी अरुणाई-सी
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल जिन्हें सुनते ही मैं भी चिरनूतन दूल्हा बन जाता,
ये ढोल कि जिनकी सम्मोहक गत पर मनुआ अधीर हो उठता,
आँसू-रुके मचलते नयन, कभी न भूलें पहला परिचय
मन पर छवि अंकित होती ज्यों रेशम पर सिलवट का अभिनय
जो भी हो ये रंग खिलेंगे, नहीं बुझेंगे दुलहन !

छिः य' कागजी फूल अरे छिः वेणी सेंट से महकाई-सी
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ढोल उधर—ओं' इधर मशीनी युग के मानव,
ढोल उधर—आ' इधर फौलादी युग के दानव,
प्रेम नया क्या होगा रे यह वही कारवाँ कांपी !
'कल' से 'आज' भला कितना नूतन हो सकता, प्रेयसि ?
जो भी हो छल-छद्म चलेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

कागज-मुद्रा-सा प्रेम चले दिन-रात शपथ भी छितराई-सी,

जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल भयातुर अणु बम की खबरें सुन-सुन कर
ये ढोल भयातुर घोर द्वन्द्व-सघर्षो मे घुन-घुन कर
बन्द नही होगी क्या रे यह गति अतिशयता ?
क्या न रुकेगी शोषण की बढती आतुरता ?
जो भी हो, ये पहिये सदा चलेंगे, नही रुकेंगे, दुलहन !

कोलाहल का जोर उधर, औ' इधर सभ्यता सकुचाई-सी,
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ढोल उधर—औ' इधर माँगती अतडियाँ दो कौर !
ढोल उधर—औ' इधर मनुज खो बैठा पिछली ठौर !
इतिहासो मे जिन ढोलो पर मानवता को गर्व रहा रे !
इस सकट मे वही ढोल अब क्रूर व्यग्य से भारी लगते !
जो भी हो ये ढोल बजेगे, नही रुकेगे, दुलहन !

शाल

पशमीने की शाल यही
हा, पशमीने की शाल
मानस-पट पर खिची लीक-सी
एकाकिनि, प्रेयसि-सी लीक।
स्नेहमयी कहती थी वशी-स्वर मे—
जोर शीत का बढ जाता है जब जाडे मे
फिर चनार के पत्तो की हो आग कागडी के अन्दर
या बस पशमीने की शाल,
हम तो काश्मीर के जाडे के है चिर-अभ्यस्त
तुम जरूर रख लो यह रेशम-चित्रित शाल।

कैसे गीली मिट्टी से आज
करू उस प्रतिमा का निर्माण ?
कैसे नयन-कोर को छू ले मृदु मुस्कान ?
कैसे अकित हो ओठो पर स्नेहासक्त मधुरिमा ?
शाल देख कर रह जाता हूँ

रख देता हूँ गीली मिट्टी
धो लेता हू हाथ।
उस क्षण की सुधि आज बनी क्यो हृदय-स्पन्दन ?
आज सजीव हो उठा फिर जीवन-अभिवादन
स्नेहमयी के गद्‌गद् स्वर मे हुये सजग फिर मधुमय ताल।

आज आरती-स्वर मे मुखरित
स्नेहमयी का गान
कहती थी—अपने हाथो से काता था पशमीना
ज्यो ममता काते आशाए।
यह भी तो कहती थी—मैने अपने हाथो इसे बुना
ज्यो आशा अपने करघे पर बुनती सपने,
अपने हाथो से ही सूई का सब काम किया।
वह क्षण था छुईमुई-सा क्षण
पाया था जब स्नेहमयी से यह अमूल्य परिधान
इसके सरस परस से जागे मन-पाताल।

कहती थी—सम्भाल कर रखियो
आगे सरक न जाये शाल।
मैंने कहा—पडे क्या अन्तर ?
इन हाथो का स्मरण रहेगा।
बोली—शाल गॅवा मत देना
मधुर स्नेह का चिरप्रतीक यह।
स्नेहमयी की हॅसी बन गई
प्रश्न चिन्ह-सी

मीठी चुटकी
प्यार नहीं नाटक भाषा रे, प्यार नहीं रे माया-जाल।

काजल की रेखाएँ थी उसकी आँखो मे मूक
कुहासे-सी साडी पहने थी
नील गगन का सम्मोहन सा थिरक उठा उसके गालो पर
सोती स्वरलहरी-सी जागी उसकी वाणी
हेमन्ती सन्ध्या मे जैसे ममतामयि विहगी का राग।
कवि की स्निग्ध प्रेरणा-सी
अम्लान स्नेह की एक रश्मि
श्रद्धा की प्रतिमा
कहती थी—छा जाओ जग पर ज्यो धरती पर गगन विशाल।

ओ छवि सुधि के इन्द्रधनुष !
तुम मूर्त्त हुए सहसा उर मे
ज्यो मौलसरी के फूल झरें कम्पित से स्वर मे,
पशमीने के सरस परस से आती यह आवाज—
हम दूर देश के स्वर
स्नेह के स्वर
अरे हम भूत भविष्यत् वर्तमान के स्वर
आज हमारे तार-तार से बुन लो गान
बुन लो नूतन शाल।
स्नेहमयी ! सुधि भीने क्षण का उडता रहे गुलाल।

पुरवाई की लहरो पर, ओ स्नेहमयी, अब

उडने लगा शाल का आचल
सच है कोई फटे अँगोछे को भी तरसे
मिल जाये यदि यही शाल उसको भी
उसका मन-मयूर भी नाच उठे रे
पर तेरा अनुरोध यही था—
आगे सरक न जाये शाल।
बर्फानी सस्कृति की प्रतिमा
बर्फानी सस्कृति की महिमा
पशमीने की शाल यही, हाँ, पशमीने की शाल।

हातो[1]

उधर का खुदा है उधर
औ' इधर का खुदा है इधर
पीर पचाल[2]
मै जानता हूँ
बर्फों-पटे ये किवाड
महीनो तलक अब खुलेंगे नही।

खेलती छोरियाँ छत्तावल[3] की
खुले सिर
खुले पैर
बर्फों पै खेलें
नाजली मेरी बेटी भी खेले

१ काश्मीरी मजदूर
२ पीर पचाल पर्वत
३ श्रीनगर की एक बस्ती

नाजली मेरी है हरजाई
नाजली चाँद की चाँदनी
देखती है बडे शौक से सबकी बारात
सुने ब्याह का ढोल औ' नाच उठे
वह भी तो दुलहन बनेगी कभी
आर खुल जायेंगी मेढियाँ[४]
उसकी कच्ची कँवारी सभी मेढियाँ।

आज फिर आया होगा सुभाना हमारे यहाँ
औ' खडा रह गया होगा कुछ देर और
चौकीदारी-वसूली के बाद
दाढी के बालो मे से उसने देखा तो होगा
कि कैसी है मेरी कतीज
वह मेरी अबाबील।

ओ मेरी कतीज,
ओ अबाबील,
घर मे बडे शौक से ताप ले कॉगडी,
यह चिनारों के पत्तो की आग—
यह भला कब बुझी ?
हाँ हाँ, सरवर निरा शाहजादा

४. काश्मीर में यह प्रथा है कि बचपन से ही कन्याएं अपने केशो की मेढ़ियां गूँथना शुरू कर देती हैं जो पवित्रता की प्रतीक समझी जाती हैं। विवाह के पश्चात् ये मेढियाँ खोल दी जाती हैं।

हाँ हाँ, सरवर फरिश्ता
मै सब जानता हूँ कि वह दिल का दरिय
बैठकर तापता काँगडी तेरे साथ
कर्ज उसका तुमने चुकाया
खुशी से उछल कर कहे बार-बार—
अब के गुले लाला[1] होगा जरूर
अरे अबके सरवर का बेटा।

पिघलेगी फिर से ये बर्फें जरूर एक दिन
फूटेंगी फिर से नई कोपलें एक दिन
फूटेंगे खेतो मे दाने
उड़ा लाई थी रे हवाए जिन्हे
दूर से—हाँ, बडी दूर से।

मेरी कतीज,[2]
ओ अबाबील,
घर मे बडे शौक से ताप ले काँगडी।
अरे, छत्ताबल का खुदा जानता है
कि इस तेरे बेटे को भी
मेरी तरह हातो बनकर
आना पडेगा इधर पीर[3] के पार।

१ एक प्रकार का लाल फूल, बालक के लिए यह लोकप्रिय नाम है।
२ कतीज कश्मीरी भाषा मे अबाबील को कहते हैं, सुन्दरी के लिए यह नाम उपयुक्त समझा जाता है।
३ पीर पंचाल पर्वत।

रेशम क कीड़े

कलकत्ते के बाजारो मे अब भी रेशम मिल सकता है
उसी तरह यह बिछुता सोता
चलता फिरता
ब्याह रचाता
टैक्सी चढता
सिनेमा जाता।

फुटपाथो की सभी युवतियाँ
सखियाँ सभी उदयशकर की
आँख के आगे आ-आ नाचें
एक से पूछा बिन पहचाने
कहो मरे है कितने कीडे
इस साडी की इक सिलवट में
अँगिया के खनी रेशम मे ?

अम्बर पर है जापानी बममार

फुटपाथों पर भूखों का चीत्कार
पिल्ले है आदम के बेटे
रोटी के टुकडे को तरसें
मरे-मिटे होगे लाखों कवि
कर अभिनव सामाजिक शृंगार
जैसे मरे मिटे ये कीडे
कात कात रेशम के तार
कौन गिने अब कितने कीडे
जीवित है औ' रहेगे जीवित
कलकत्ते के बाजारो मे अब भी रेशम मिल सकता है।

हिन्दुस्तान

ओ हिन्दुस्तान !
हल है तेरे लहू-लुहान—
ओ हिन्दुस्तान !

पैरो मे है टूटे जूते
कपडे तेरे निरे चीथडे
पेट कबर सदियो की
ओ हिन्दुस्तान !

मे कालिदास से कहता—
अब 'मेघदूत' को छोडो,
विरह प्रथम या भूख ?
ओ हिन्दुस्तान !

महानदी ने मुझे बताया
दम्पति पूरे सौ औ' बीस

मर गये मिट्टी फाँक-फाँक
ओ हिन्दुस्तान !

नाच अजन्ता-युग के
क्यो नाच रहे, ओ नर्तक ?
भूखा है अपना बगाल
ओ हिन्दुस्तान !

मैने देखा आसाम
देखे ककाल चतुर्दिक्
मरा पडा था 'बिहू' नृत्य भी
ओ हिन्दुस्तान !

वृद्धा-सी यह वशी
लाजहीन, बज-बज कर
मृतप्राय हुई अधरो पर
ओ हिन्दुस्तान !

एशिया

खून से लाल होती रही है जमीं
युद्ध रुकते है कब ?
युद्ध होते रहे
युद्ध के बाद फिर
अमन के फूल खिलते रहे
हल भी चलते रहे
खेत उगते रहे
बालियाँ भी तो सोने मे ढलती रही
धडकनें गीत बन कर उभरती रहीं
एशिया का अमन मे रहा है यकी

एशिया का अमन मे रहा है यक
ओ चमकते सितारो !
ओ ऊँचे पहाडो !
कठिन पथ की ओ नन्ही पगडण्डियो !
तुमने देखा तो होगा कही बुद्ध के भिक्षुओ को

वे जहाँ भी गये गुनगुनाते रहे—
बुद्ध शरण गच्छामि
धम्म शरण गच्छामि
सघ शरणं गच्छामि—
एशिया ! तेरा दिल क्यों है गमगी

एशिया ! तेरा दिल क्यो है गमगी ?
हर कलाकार के हाथ मे
तूलिका अपना जादू दिखाती रही
जैसे आता है फूलो मे रग
जैसे आती शहद मे मिठास
जैसे आती अतर मे सुवास
जन-कला मे उभरती रही नगी धरती की शान
खेत की नर्म माटी मे उगता रहा प्रेम, उगता रहा जैसे धान
उगता रहा सारा सौदर्य गेहूँ के खेतो मे ही
एशिया ! फिर भी तेरी फटी आस्ती

एशिया ! फिर भी तेरी फटी आस्ती
तेरे महलो मे सोने की मोहरें लुटीं
बादशाह मुस्कराते रहे और पीते रहे जाम पै जाम
कनीजो[1] गुलामो की किस्मत में लिखी थी साकीगरी[2]
तेरे खेतो में तेरे किसान

१ बाँदी
२ मदिरा पिलाने का काम

नगी धरती पै बेकफन मरते रहे
भूखे गिद्ध उन पै झट झपटते रहे
जैसे उमडी हुई लोरियाँ बीच में टूट जायें
जैसे पर्वत की ऊँचाइयाँ बस सुकडती चली जायें
एशिया ! तेरी होती रही कैसी तौही

एशिया ! तेरी होती रही कैसी तौही
आज जनमत का सूरज उगा
आज तन्दूर से गरम रोटी लपक कर
भूखे की झोली में आकर गिरी
ओ कलाकार की तूलिका ! अब तो तू भी बदल
अब तो रेखाओ-रगो की भाषा बदलने लगी
अब न खेतो में उगते रहेगे गुलाम
अब न सोने-दली बालियो मे पकेंगी कनीजे
आज धरती ने ली फिर से अँगडाइयाँ
अब बिछा अपने सपनो का कालीन, ओ एशिया—विश्व की नाजनी !

अब बिछा अपने सपनो का कालीन, ओ एशिया—विश्व की नाजनी !
आज ज्वालामुखी युद्ध का फिर से सो जायगा
आज मानव-व्यथा का विजयघोष हो जायगा
सत्य की ही विजय होती आई सदा
वह सुनो सत्य का शख फिर से बजा
अब न सोने औ' चाँदी की होगी कनीज एशिया की कला
अब न जुल्मो की दलदल मे धसती चली जायँगी लोरियाँ
अब न गुमसुम कभी होगी मानव की किलकारियाँ

अब न अपनों के सीनों पै दागेगा कोई कभी गोलियाँ
एशिया ! फिर न होगी कभी खून से लाल तेरी जमीं ।

युग आता है, युग जाता है

चू पड़ते ज्यों चट्टानों पर
घन बकरी के
त्यों ही सहसा ध्वनित हो उठे सभी यन्त्र फिर—
युग आता है, युग जाता है।
सोच रहा हूं
इन ककालों-खोपड़ियों पर
रखी जायगी
आज भला किस संस्कृति की बुनियाद ?

नागासाकी
औ' हिरोशिमा
सह न सके अणु बम की मार
बम-वर्षक से कह न अरे कुछ
रुदन न कर मृतसुन्दरता पर।
सोच रहा हूं

बेकफनाये प्यारों को
क्यो बार बार करता हूँ याद ?

देख दीपमालाएँ ये सब
मीलो तक ये गाजे बाजे
लाश उठ रही ब्लैकआउट की, उधर न देख
जाने किस-किस की माताएँ
जेबो मे पैसे छनकाएँ ।
सोच रहा हूँ
सोना महँगा रक्त-मांस से
अब तक मेरे ओठो पर है
क्यो पहली फरियाद ?

मानवता की कोख भला बर्बादी से डर
कब होती है बाँझ ?
देख आज यह नाच
देख युग की यह विकृत मुद्रा ।
सोच रहा हूँ
हुआ यही जजीरो का अवसान,
जजीरें क्या फिर आयेंगी ?
कभी न फिर से होगी अधी आदम की औलाद ।

ओ मधुमाखी !
जन्म-जन्म तक कीजो मधु तैयार,
ओ रेशम के कीडो !

रेशम कात-कात भरना भंडार
ओ मानव, मत भूल अरे यो
आधे पथ में।
सोच रहा हूँ
उजडी मानवता यह फिर से
कब होगी आबाद।

क्रान्ति

घूमें औ' चल पडे कि जैसे रथ के पहिये
क्रान्ति गान के रग मचलते
आगे बढते
धन्य धन्य यह गान
धन्य यह अविरल वाणी
धन्य धन्य यह ध्वनि पर ध्वनि उठने की बेला ।

घूमे औ' चल पडे कि जैसे रथ के पहिये
चलो, सैनिको, कदम मिलाकर
जैसे चलते गायक के स्वर
गान नही, यह नक्कारे की चोट
गान नहीं, यह महानाद अलबेला ।

घूमे औ' चल पडें कि जैसे रथ के पहिये
एकनिष्ठ जन-जन का मन
एकनिष्ठ जन जन का तन

अब न चलेगा मनुज उठा कर
युग-युग का यह बोझ अकेला।

घूमे आ' चल पड़े कि जैसे रथ के पहिये
ओ भविष्यगामी कवि ! तेरी यह कैसी आकुलता ?
बढ़ा आ रहा
कोटि-कोटि जन-बल का रेला।

घूमे आ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
चट्टानों की महाविकट
इन दीवारों को तोड़-फोड़ कर
आगे बढ़ती चिर-बन्दी जलधारा—
महामुक्ति की बेला।

घूमे आ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
भू-गर्भित जन-जन की वाणी
अब न दबेगी
फूट पड़ेगी
वही आज फिर क्रान्ति-गान का छन्द बनेगी
कौन करेगा विस्फोटक अणु-शब्दों की अवहेला ?

मिस्र देश

लो आया भूकम्प—
पिरामिड[1] डोल रहे हैं !
आज बूझ कर तेरी गूढ पहेली, अब्बुलहोल[2] !
खड़ा हो गया यह काला इन्सान
आज तो अपना सीना तान ।

हे सूरज,
हे मिस्र देश,
हे नील,
पिरामिड हैं प्रतीक चिर-अपमान के
यहाँ सो रहे घोर नींद में
जनता के अपराधी ।

१ मिस्र देश के प्राचीन सम्राटों की समाधियाँ ।

२ मिस्र देश की पुरातन परम्पराओं की प्रतीक मनुष्य और पशु की सयुक्त भयकर मूर्ति, जिसका धड़ पशु का और मुख मनुष्य का है ।

हे काले इन्सान,
आज किस काम अलबत्ता के किस्से
काल-कलूटी ममियाँ[1] बहुत देख ली
देख उषा ने ली अँगडाई
आशा की ऋतु आई।

माताओ की जनन-शक्ति है धन्य
धन्य युग का नूतन आह्वान
आज परख लो कनक-कसौटी पर जनमत को
थकी-दबी मजदूरिन भी दर्पण मे रूप निनहारे
आज फरफराते झण्डे को देख मनुज ने शपथ उठाई—
सौ सौ प्राण निछावर करके ले लेंगे आजादी।

झूठ, झूठ, यह झूठ
कि चिल्लाते ही लदते ऊँट
अगणित नस्लो के इतिहासकार, हे सहरा [2]।
आज बन गया इक-इक जर्रा इक-इक सूरज।

हे नील, न जाने तुमने कितने राह बदल डाले
हाँ, बदले कितने राह!
ऊँची उठकर तेरी लहरें मुक्तकण्ठ से कहती आज
रेंग रेंग कर चलो न, ओ इन्सान।

१ अतिशय पुरातन रक्षित शव जो केवल मिस्र म ही मिलते हैं।

२ मरुस्थल

किन्तु अभी कुछ समय लगेगा
अभी रहेगी ये जंजीरें
अभी कहाँ गम का अवसान।

कवि और शिरीष

कवि, जेठ मास के बनते हो तुम कटु आलोचक
औ' कहते हो—
लिखा नहीं जा सकता कुछ भी
इस औधे जल रहे कडाहे से आकाश-तले
सच कहता हूँ
मुझे तनिक विश्वास नहीं हो पाता
तुम ही तो कहते थे उस दिन—
कवि की प्रतिभा ऐसी जैसे ढलता सिक्का
तो फिर जेठ मास को भी तो थोड़ा श्रेय अवश्य मिलेगा
तुम से भला शिरीष
अरे ! यह जेठ मास मे खिलता आया
अब के और खिलेगा

कवि, क्या यह तुम नहीं मानते ?
ये शिरीष के वयोवृद्ध सब पेड़
धन्य हैं, जेठ मास में भी खिलते हैं

औं फूलों से लद जाते हैं
जाने कब से खड़े-खड़े ये तकते आये
काल-पखेरू के पंखों की गतिविधि साँझ-सकारे
इन्हें याद है मेरा बचपन
साक्षी ये मेरे यौवन के
तुमने भी तो देखी होगी ऐसी वृक्षावलियाँ
तुम्हीं कहो फिर कविता में
कैसे शिरीष का पेड़ नहीं उभरेगा

कवि, ऐसा भी क्या जीवन
जो वासन्ती सुगन्धियों का हो जाये मुहताज
कवि यदि कवि है तो उसका मन
खाली थैले-सा क्यों दीखे
जेठ मास की तपती-जलती दोपहरी में
मेरे जन्मग्राम का यह रेतीला पथ
चिर-ऋणी रहेगा इन शिरीष के वृक्षों का
जो सूरज के अग्निबाण सब अपने सिर पर सहते आये
मस्त-मलंग शिरीष देखकर
वसुधा का हिय फिर हुलसेगा

कवि, जाने कितनी अज्ञात यौवनाओं ने
पहने होंगे कानों में कोमल शिरीष के फूल
जैसे कभी तपोवन में पहने शकुन्तला ने सकुचा कर
डर काहे का, यौवन से कुछ-कुछ पहले ही मन के फूल

खिल उठते, औ' सचमुच मन के भीतर की सुन्दरता ही
बाहर की सुन्दरता का करती आलिंगन
ज्यों गहरे पाताल-कुएँ से जल का डोल खींचकर गोरी
धीरे से देती उडेल मुसका कर
अनजानी अनुरक्त ओक में
ऐसे ही कविता हो जाय
अरे, इसमें जीवन संभलेगा

कवि, आज बहाना छोडो, कुछ तो बोलो
कवि यदि कवि है उसे धूप, वर्षा, आंधी औ' लू में भी तो
अपनी प्रतिभा को कुंठित होने से सदा बचाना होगा
ऐसे ही जैसे खिलते हैं ये शिरीष के फूल
सुन्दरता यदि सुन्दरता है
तो फिर उसकी जडे बहुत गहरी होगी ही
गरम हवा से भी उसमें रस पाने की क्षमता होगी ही
कविता भी यदि कविता है तो कवि को होना होगा मस्त मलंग
जेठ मास की तपती-बलती दोपहरी में
नहीं रुकेगा कवि का छन्द—
अरे, यह नहीं रुकेगा।

टोडा[1] संस्कृति

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
पर यह सस्कृति नये क्षितिज के सम्मुख क्यो सकुचाती ?
ओ ध्यान-मग्न भय-कातर मानव, इस दर्पण मे दिख न सकेगी
आज गगन की आदिम छाया
काश ! कि कोई तुम्हे बता दे लौट नही पायेगी फिर से
बीती सदियो की पद-चाप
धुँधली रेखाए मस्तक की रह न सकेंगी, ओ नादान
टिक न सकेंगे मुर्झाए सूखे पत्तो-से गान
ओ सिमिट-सिमिट कर सूनेपन भी बदल रहे दिन के अवसान !
चुक जाती है आखिर इकदिन पिछले वैभव की सब थाती ।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
पर जाने क्यो साँस रुकी-सी, घुटा-घुटा मन—
दीप शिखा भी बुझती जाती

१ दक्षिण भारत के नीलगिरि-प्रदेश मे एक आदिवासी जाति ।

शायद फिर से दीप अकिंचन ज्योति-पुंज कहलाये
शायद फिर से रुकी थमी धारा में गति आ जाये
नीलगिरी के पुत्र, तुम्हारे मन की वाणी
दबी-दबी-सी भिची-भिची-सी क्यों है आज ?
टुक देख चाँदनी किसी किन्नरी की बाहों-सी
दूर किसी चन्दन-वन का करती आलिंगन
किसने यह विषपात्र थमाया आज तुम्हारे कर में ?
आत्मघात यह कैसा ? देखो उषा नया जीवन सरसाती।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
नीलगिरी के सूरज की किरनों से पूछ रहा हूँ
क्यों टोडा-जनसंख्या घटती जाती
क्यों मानवताबोध पुरातन नवयुग के सम्मुख सकुचाये ?
क्यों विभिन्न रंगों पर गहरी धूसरता छा जाये ?
सोच रही क्या बैठी-बैठी भैंसें मूक-मूक-सी ?
रहा गर्व युग-युग से टोडा संस्कृति को इन पर ही
वृद्धा दादी अब भी कहती—'इक थी भैंस ओं' इक चट्टान
युग-युग जीवे भैंस, फले-फूले टोडा-सन्तान !'
अब भी मुखरित टोडा-लोककथा रँगराती।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
ओं भैंसो, शत-शत अभिनन्दन !
धवल दुग्ध-धारा, अभिवादन !
नीलगिरी की रेखा, तू कितना बल खाती !

महाकाल के पग चलते है अपने पथ पर
वीणा के तारो पर चलते जैसे अनजाने स्वर
ओ टोडा-कुलवधू, तुम्हारे हाथ कलामय
रहे काढते नवयुग का अरुणोदय
सस्कृति की ही रगभूमे कर सकती है सर्वोदय
सूनेपन के हलके स्वर, लो विदा !
कि टोडा सस्कृति आगे बढ कर
आज मृत्यु को धता बताती ।

सरोजिनी नायडू

ओ अवसादमयी वंशी, टुक देख गगन की ओर
अश्रु-सिक्त हो उठा अचानक वसुधा का यह छोर
चल बसी कोकिला भारत की
वह मधुरभाषिणी
रुका रुका-सा पावन, रुद्ध स्वर कल कंठों में
रुकी-थकी-सी ध्वनि वंशी की
मूर्च्छित पुष्पावली धरा की, रे मन !

मूक दिशाओ, आगे गहन अँधेरा है क्या ?
अखिल एशिया टेर रहा है—
जयतु, जयतु, जय, जय, सरोजिनी !
तेरी कविताओं में मुखरित संस्कृति के खलिहान
तेरी ही गमकों से जागे वसुधा में नव प्राण
'स्वर्ण-देहली', 'काल पखेरू',
'टूटा पंख'—काव्य का हियधन ।

ओ जन-पथ, टुक तू भी सुन
ये गान कि जिनमें रमी कूक कोयल की
ये गान कि जिनमें महके चम्पा, गूँजे लोरी
ये गान कि जिनमें हुमक हुमक कर चलें पालकीवाले
लो शुरू हुआ फसलों का गान
लो कुलवधुएं मुस्काईं, लो गूंजी बीन
पर्व-उत्सव-पूजा की वेला—अहो विलक्षण।

नवयुग की साकार चेतना!
सन्धि-काल की स्वर्णिम श्यामल वेला!
कौन करेगा सुना अनसुना
महाकाल के प्रति आवेदन—
"महाकाल, टुक ठहर
कि मैं सब गान नहीं गा पाई
ढलके नहीं कभी आँसू, ओ महाकाल सुन!"

दीप बालती ग्रामवधू, टुक थम जा,
सूनेपन के चिन्तन में उजियाला बोझिल लगता
हाय न विधि ने पंख दिये—मैं यहाँ गोमती वहाँ
कि जिसके तट पर
धू धू जलती होगी चिता किसी की
गिर-गिर पड़ते, गिर-गिर उठते मरण-गान के स्वर
दूर से आते लहराते, रे मन!

ओ चौराहे के बालू, टुक झाँक हृदय में
ग्रहणशील है तेरा कण-कण
पूरम्पूर ग्राम का सब इतिहास तुम्हें रहता है याद
उस कोयल के बोल सदा गूँजेंगे कुलवधुओं के मन में—
सुन लो मेरी बात—असल में बापू का सन्देश,
हाथ-कताई, हाथ-बुनाई कभी न मिटने पाये जग से,
यही शान्ति-सुख का है साधन।

अनजाने चुपचाप गुजरते चरवाहो, टुक रुक जाओ,
दिन का तो अवसान हो चुका
रात हुई विश्राम करो अब
कल सूरज उगने से पहले फिर हो जाओगे तैयार
और तुम्हारे पग बालू पर फिर उभरेंगे
छवि-पट पर ज्यों कलाकार के रंग निखरते
ओ चरवाहो, गान तुम्हारा, स्वर कोयल के, जन-जन का अभिनन्दन!

गेटे

देश काल की सीमाएं
ऊँची प्राचीरें
कवि के सम्मुख झुक जाती हैं
दो सुदूर देशों का मिलन हुआ है बारम्बार।

माना गेटे जर्मन कवि था
पर शकुन्तला के कवि ने
था मोह लिया हिय-तल गेटे का
यों दो प्रतिभाओं का संगम—वसुधा का शृंगार।

गेटे ने शकुन्तला को देखा औ' पूछा—
क्या तू चाहे एक साथ ही
तरुण वयस का मुकुल और परिणत जीवन का फल ?
कालिदास यदि सुन पाता बजते उसके हिय-तार।

गेटे बोला—री शकुन्त !

क्या तू ऐसी वस्तु चाहती
सम्मोहित औ' पुलकित करदे और क्षुधा को तृप्तिदान दे
सचमुच क्या तू यही चाहती, कवि-प्रतिभा साकार ?

गेटे ने पहचान लिया था भारत को शकुन्तला के चहरे पर
जिसे देखकर मुक्तकंठ से बोल उठा था जर्मन कवि यों—
क्या तू चाहे एक शब्द में स्वर्ग-मर्त्य का रूप प्रकट हो ?
तो शकुन्तले, मैं लेता हूँ तेरा नाम—रूप का सार ।

जन्मदिन

शत-शत स्वर्णहार पहने, हाँ, अमलतास-सा, प्रेयसि !
हँसमुख, चंचल एक जन्मदिन आया था चुपके से,
उसी जन्मदिन की फिर आज करें पहचान—
कसी हुई वेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
आज कहाँ सपनो की झन-झन !
आज कहाँ यौवन की रुन-झुन !

गत वर्षों की सुधि लेकर फिर आया आज जन्मदिन, प्रेयसि ?
जैसे गाडी के पहिये हो चलने पर मजबूर
हाय ! निरन्तर चलते रहने पर भी मंजिल दूर !
फिर से काँप उठें अधरो पर शत-शत गान—
कसी हुई वेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
लाख मिले नयनो से नयन !
लाख बँधे, प्रिय, मन से मन !

एक युद्ध विस्मृत न हुआ औ' दूजा युद्ध छिड गया, प्रेयसि

अब तीजे की तैयारी की उड़ती खबर निरन्तर आती,
मानवता के घावों से तो अभी अहर्निश पीप निकलती
कौन उपाय भला जिससे हो फिर जन जन का त्राण
कसी हुई वेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
मटमैला सा आज गगन !
उनमन उनमन मानव-मन !

विष मे बुझे तीर-से मन की प्यास मिटी कब, प्रेयसि ?
एक बूँद विष सात बूँद मधु को दूषित कर देता
अपनी परछाई से भी तो मानव आज विदकता
कहीं शान्त जो हो पाते ये दीपशिखा से कम्पित प्राण
कसी हुई बेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
व्यर्थ हुए शत-शत संभाषण !
व्यर्थ हुए शत शत अभिवन्दन !

फूलों से मधु-सचय करती युग-युग से मधुमाखी, प्रेयसि !
मधु मे ही परिणत हो जाता तिक्त-मधुर फूलों का रस
मधु सचय होते ही बरबस मधुमाखी होती निर्वासित
कौन करे प्रतिशोध हथेली पर रख जान ?
कसी हुई वेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
कहाँ मिले, प्रिय, न्याय अकिंचन ?
कब होगा फिर सागर-मन्थन ?

निर्वासित मानवता भी इक दिन लौटेगी, प्रेयसि !

पक्ष, मास औ' वर्ष बीत जाते अविराम
सूरज को नित उदय-अस्त होने से काम
आज सत्य के पद-चिह्नो का कौन करे सन्धान ?
कसी हुई वेला मे हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
जीवन तो मधुगन्ध-चयन !
जीवन नही हृदय-निर्वासन !

एक समान नही आते है सभी जन्मदिन, प्रेयसि !
मधुमासी का आया आज जन्मदिन !
नये छन्द मे, नये स्वरो मे जाग उठा है जन-जन !
धरती के अधरो पर नाचे युग का स्वागत-गान
कसी हुई वेला मे फिर से रचा नवल अवकाश, प्रेयसि !
उभरे फिर पहचानो के क्षण !
बाट जोहती वेला के क्षण !

आषाढस्य प्रथम दिवसे

कवि, तुम कालिदास के वशज
फिर क्यो इतने गुमसुम ?
मेघदूत यदि नही
अरे कुछ तो लिख सकते तुम भी—
मेले जाती गोरी का आँचल ज्यो उड-उड जाय,
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।
लो पुरवाई चली आज ज्यो चले मचलती गोरी
गरजें मेघ आज ज्यो डम-डम डमरू बाजे
अमराई मे कूके कोयल ज्यो नीरवता में वंशी-धुन
मधुर नीद के झोके गोरी की पलको को छू-छू जाते।
कवि, जन्मभूमि की वर्षगाँठ यो आ जाती हर बार,
उमड घुमडकर आते बादल ज्यो मेले मे भीड अपार।

कवि, वर्षा ऋतु का प्रथम दिवस है
जाग उठी है धरती आज अरे ज्यो आँखें मलती गोरी

झन-झन चूड़ी
रुन-झुन पायल
गोल चिबुक पर गोल गोदना माथे पर टिकुली मुस्काय,
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।
गोरी के नयनो मे काजर-डोरे मेघ-कोर-से
अँगिया पर शत-शत रीझों से काढे फूल,
लाल बुन्दकियोवाली चूनर
चिर-सुहाग का चिह्न अरे वह सेंदुर-रेखा—
कवि, ऐसे मे भीजे गोरी का सारा शृगार,
उमड-घुमडकर आते बादल ज्यो कवि के उद्गार।

कवि, मेघ घनेरे ज्यो गोरी के पडी-छूते केश
नित-नित नूतन मृदु गोरी का वेश
धरती पर ज्यो बरसे मेघ
कला पर बरसे रे जन-प्रतिभा
झूला झूल रही गोरी का गान चित्र बन जाय
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।
ओ पथहारा, तेरी मजिल
लोक कला है, सुन यह कहती—
मे हेय नही
मे तुच्छ नही
कवि, आज मेघ-गभीर स्वरो मे गाओ फिर नूतन मल्हार
उमड-घुमडकर आते बादल ज्यो सपने मे बरस हजार।

कवि, आज तुम्हारा मन क्यों डाँवाडोल ?
देख बधिक से बचकर आई वह घायल हिरनी सी
लोक-कला की चितवन आज,
अन्धकारमय मुरग पार कर लेगा जन-मन
मधुस्नाता गोरी ज्यों मेघों-से केश सुखाय
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय
आज कला को मुक्त करो, कवि !
मानवता फिर मुखरित हो, कवि !
जाने कब से शापित औ' निर्वासित लोक-कला रे यक्ष-समान !
यक्षप्रिया को बिसर गया रे अपना साजन !
कवि, आज खोल दे फिर से प्रतिभा-द्वार,
उमड़-घुमड़ कर आये बादल—तरल चाँदनी के मृदु प्यार।

कवि, आज भला यह ध्रुपद ठाठ का राग सुनेगा कौन ?
रागिनियाँ सब घबराई-सी
घोर निरंकुश गान मशीनी युग के
अरे रे ! कला-सिंहासन पर चढ बैठे
झूमर आज रही गोरी की वेणी खुल खुल जाय
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय !
कहाँ की धुन
कहाँ के स्वर
छीः छीः
ये बाजारू गमकें
गली-गली में डोल रहे ये विद्रोही-से गान

कवि, आषाढ का प्रथम दिवस है गाओ सरस मल्हार,
उमड-घुमडकर आते बादल— रगो का अभिसार।

बन्दनवार

प्रेयसि !
कल तक रुके-थमे-से चलते थे वसुधा के गान
आज उड़ें वे पख पसार
नूतन आशाओ ने पहने रगभरे परिधान
उषाकाल मे मचल उठें ज्यो केसर-रोली के उपहार ।

प्रेयसि !
कल तक हम लोहे के कण थे बिखरे-बिखरे
आज हमे युग-चुम्बक लाया पास
दूर हटेगे भय के कुहरे
रह न सकेगा मानव यो मानव का दास ।

प्रेयसि !
कल तक हम आदिम युग में थे जन्मे और पले,
आज झँझोडा अणुबम-युग ने
जो गेहूँ के खेत भले लगते सोने मे ढले-ढले

अनायास ही बीत गया क्या उनका युग ?

प्रेयसि !
कल तक मानव-भाग्य सिका ज्यों रोटी सिकती
कैसे पड सकता गेहूँ का काल ?
नये क्षितिज के सम्मुख रूप सँवारे धरती,
नई नर्तकी की मुद्रा मे रग भरे ज्यों नूतन ताल ।

प्रेयसि !
कल तक मुट्ठी भर माटी से हुआ जन्म मानव का
हम माटी के ऋणी रहेगे
माटी का तन, माटी का मन
सोने-चाँदी की दानवता से अब हम न डरेंगे ।

प्रेयसि, कल तक अपनी भाषा भी दासी थी
आज करेगी जन-मन पर वह राज
गोरी गोल कलाई पर ज्यो बाँक—किरण आशा की,
नतन युग के नूतन ही तो होगे सभी प्रतीक ।

प्रेयसि !
कल तक हो न सका इस धरती पर जनमन अभिषेक
राजाओ तक सीमित रहा सदा इतिहास
उठ अब बन्दनवार सजा ले
उदय हो रहा एक नया युग लिये नया इतिहास ।

वा ता य न

भारतमाता

भारतमाता !
रुनक झुनक रुनक झुनक रुन झुन झुन
लालन की पैजनियाँ बाजें रुन झुन
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
खींचे डोर पालने की माँ
हिम किरीटिनी चिर-सुहागिनी
छिटक उठी झर-झर पडती-सी
पूनम की मृदु तरल चाँदनी
गूँजे लोरी ज्यो चमके रे
मेघ कोर मे चपल दामिनी
पकी बालियाँ नये धान की
चुन ले री निदया सुकेशिनी
मेरे लालन !
निद्रापथ मे नई खिली कलियाँ चुन

रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
धरती की सुगन्धिया चचल
आज हुआ रे मुखरित कण-कण
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
वीणा आज हो उठी झकृत—
झुको झुको, ओ नील गगन !
शख बजे रे—स्वागत्, स्वागत्
स्वागत्, पर्वोत्सव, अभिनन्दन
ढोल बज उठे—स्वागत् स्वागत्
स्वागत्, प्रा[illegible] चिरन्तन
शस्य श्यामला के कलिपत स्वर—

भूख उगाते सूख गया तन
मेरे लालन !
नूतन जीवन का वितान बुन,—
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
गौरव की ऊँची प्राचीर पुरातन
कब रे मिटेगा मानव का विष-दशन ?
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
आगे बढ़ सकती है कैसे
मानवता व्यूहो मे बटकर ?
घृणा द्वेष के साँप विषैले
रींग रहे दिन रात निरन्तर
अवचेतन की गहन गुफा मे
छिपे अह ! लो विदा यहाँ से
जनमत के युग मे धरती पर
जन जन का अधिकार हुआ रे
मेरे लालन !
आज नई जागे वशी-धुन—
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
रक्तस्नाता मानवता—सस्कृति की जननी
गंगा न्हाने आये रे किस दिन ?
रुनुन झुनुन

रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

ओ प्रतिभा की सृजन-चेतना
शत् शत स्वागत अभिनन्दन
ओ युग-युग की कला भावना
शत शत स्वागत अभिवादन
अणु बम से ये कोटि-कोटि जन
क्यों भय-आकुल आज ?
सस्कृति की आधार शिलाएं
स्वय बनेंगी अंग-रक्षिका,
मेरे लालन !
जागे तेरा स्वगिक चिर-अमृतगुण
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

मणिपुरी लोरी

निद्रापथ पर विजयपताका फहराओ रे माँ बलिहार
सोजा, सोजा, सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यो कपास की डोडी मे
सोना है पैर पसार
एक कीट नन्हा-सा
श्वेत, मृदुल, सुकुमार
माँ के स्नेह विकास, सोजा
प्यार भरे इतिहास, सोजा
जीवन के उल्लास, सोजा
सौ सौ हाथी रोज सिधाएं हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होगे हाथी पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार।

निद्रापथ की डगर कठिन कब माँ बलिहार

सोजा, सोजा, सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
वीणा के मृदु तागे पर ज्यों
सोते स्वर सुकुमार
माँ के हिय मे सोती ममता
नूपुर मे सोती झंकार
ओ मृदग-ध्वनिमान, सोजा
ओ घु घरू के गान, सोजा
वशीस्वर-सम्मान, सोजा
सौ सौ दीप संजोएगे रे हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होगे दीपक पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

थके-थके से रथ के पहिये कैसे ओर चलें रे माँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यो पक्षी की नयन-कोर मे
सोता नीलाकाश-प्रसार
मृग-उर मे सोती स्वर लहरी
सावन-घन मे मेघ-मल्हार
ओ मृदु निर्झर-गान, सोजा
वनवैभव के प्राण, सोजा
पर्वत-हियसन्धान, सोजा
सौ सौ जुगनू नाच उठेंगे रे निद्रापथ के इस पार

कल जब तुम जागोगे सोते होगे जुगनू पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

रेशम के कोडे कब तक कातेंगे रेशम माँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
वृक्ष-नीड में सोता है ज्यो
चिहगी का नन्हा-सा प्यार
वनश्री मे सोती सुन्दरता
ज्योत्सना मे स्नेह-फुहार
नीद भरे आलिगन, सोजा
आशा के आमत्रण, सोजा
हिय के मृदु आकर्षण सोजा
सो सौ सपने रोज बुनेगे हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होगे सपने पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

निद्रापथ पर बजे बाँसुरी मधुर-मधुर रे माँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यो मयूर-पंखो पर सोती
रगो की आभा सुकुमार
गो-स्तन मे ज्यो सोता अमृत
फूलो मे माधुर्य अपार

ओ मानस के दर्शन, सोजा
अभिलाषा के मधुवन, सोजा
ममता के मधु-गुंजन, सोजा
सो सौ नन्हे शंख बजेंगे रे निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे नन्हे शंख कुमार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

बलिदान

एक घूंट
दो घूंट
न जाने कितना विष था
उस प्याले में,
विष की एक घूंट ही
होती है पर्याप्त।

एक हाथ
दो हाथ
न जाने कितनी ऊँची
थी वह शूली,
शूली आखिर शूली ही थी।

विष पीने औ' शूली चढ़ने की गाथाएं
चिर-नूतन है
और चिरन्तन,

मानवता आभारी है
इन बलिदानों की ।

राष्ट्रपिता हे
ज्योतिमय हे
किसे ज्ञात था तुम चल दोगे
होगा महाप्रयाण
निज शोणित से एक राष्ट्र को दोगे जीवनदान ।

हे मारुत, हे सूरज
हे जल थल आकाश
हे धरती
चन्दन चिता आज हे
धक् धक् जलती
आज राष्ट्र की
निधि है पल मे बलती ।

भस्मसात यह काया
जाने कहाँ कहाँ पहुँचेगी
हे कोटिबाहु के बाहु,
बने रहना जनता के सम्बल,
युग युग के स्वर्णांचल
हे युगवाणी,
मूक न होना

शत शत बाधाओं के होते
बुझे न बाती ।

हे विश्व-वेदना,
तेरी वाणी
तेरे मुक्त हास की रेखा
गहन निशा में
दामिनी-द्युति बन दमके
हे नव स्वतन्त्रता के नव श्वास,
निरन्तर चलते रहना,
ज्योर्तिमय की ज्योति
सदा वसुधा पर चमके ।

रूपवाणी

प्रेयसि

मेरी प्रेयसि
हीर नहीं
न मैं हूँ राँझा
फिर भी तो हम बँधे प्यार में
सुख दुख साझा।

काश प्रणयधारा में हम भी
तेरे होते
दूर-दूर तक
आ' बाँहों के मृदुल पाश में
बँध बँध जाते हम भी
प्रेयसि!

ओठ हीर के
सचमुच ही क्या इतने ही थे
सुन्दर, कोमल, पतले

मेरी प्रेयसि के ओठो से बढकर ?
नहीं नही, कैसे कर लूँ स्वीकार ?

मै हूँ पथिक
पैर मे चक्कर
देश-देश के लम्बे पथ सन्देश
नित सुनता है मेरा मन
रहती सदा एक ही धुन ।

मेरी प्रेयसि
पथ-पथ की अभ्यस्त
चल पडती है उधर जिधर मे हो लेता हू
न हँस कर, न रो कर
नयनो मे प्रिय नयन पिरो कर !

चाहे कभी थकन से चूर
उकता कर बस लम्बे पथ से
कह उठती है
अब मै ओर नही चलने की
भूल हुई जो ब्याह कराया
पछतावे रे मेरा मन !

रे मेरी प्रेयसि की नाक
है कुछ-कुछ बेडौल

झाँक रही हड्डियाँ गलें की
साधारण-सा रूप
मुख की रेखाएं भी हैं बस
छिन्नभिन्न-सी
फिर भी मेरा मन उमड़ा पड़ता है
श्यामल सघन कुन्तलों की छाया में
जहाँ झाँकते नयन सलोने उन्मीलित मदमाते।

ताजमहल

मेरे कन्धों पर सिर रख कर दो उदास आँखों से
ताजमहल की सुन्दरता क्या निरखे ?
एक कलाप्रिय हिय की मूर्त्त भावना
इसके सम्मुख नतमस्तक हो, प्रेयसि !

मुमताज महल थी सरल मृगी-सी
विधी स्वर्ण-बाणों से
उधर मुक्त वन इधर महल की प्राचीरें थीं
शाहजहाँ था रूप-अहेरी, प्रेयसि !

नेह चढाया होगा मेरा दिल कहता है
हर मजदूर ने अपनी-अपनी मजदूरिन को
खून पसीना एक किया होगा वर्षों तक
शाहजहाँ कब दे पाया होगा उनकी मजदूरी, प्रेयसि ?

दुनिया कहती ताजमहल का शाहजहाँ निर्माता

मैं कहता हूँ
ताजमहल है भेंट
पुरुष की नारी के प्रति, प्रेयसि !

कितने मजदूरों का यौवन
ताजमहल के उठते-उठते
बना एक चीत्कार
उधर नेह की भेंट इधर मधु यौवन की बेगार, प्रेयसि !

दबे रह गये होंगे जाने कितने नेह
उभरा तो बस शाहजहाँ का नेह
क्या मेरा भी नेह नहीं है इसमें
मूर्तिमान औ' मुखरित, प्रेयसि ?

मेरे कन्धे पर सिर रख कर दो उदास आँखों से
ताजमहल की सुन्दरता क्या निरखे ?
पत्थर को भी मिल सकता है वाणी का वरदान
संगमरमरी हिय की धड़कन आज हुई क्यों मौन, प्रेयसि !

कूच बिहार

कूच बिहार रहेगा याद
याद रहेगी रजनीगन्धा
अगडाई लेकर उठती-सी
ऐसे मे कब सो सकता था मे भी ?
मान-गर्व की वेला मे
बज उठी थी रजनीगन्धा की हिय-वर्शी
सचमुच वह रतजगा रहेगा याद !

गोरी के ओठो पर ज्यो पहले चुम्बन का
सरस परस-सा रहे जागता
ऐसी ही रजनीगन्धा थी
कहती थी—यह रात महकते कोमल मृदु स्वप्नो की
स्नेह गान मे रुँधा रहे क्यो ?
दर्द कठ मे अटक अरे क्यो आज करे फरियाद ?

गीली सूनी पगडडी पर

बिछ-बिछ जाती थी सुगध रजनीगन्धा की
चलती पुरवाई मानो रुक रुक जाती थी
औ' मुसकाती रजनीगन्ध लाजलजी-सी
सोधी सुगध मे डूबा कुज विहार रहेगा याद ।

नर्त्तकी

नारी जन्म-जन्म की सगिनी
सहचरि जन्म जन्म की
रूपराशि
गुणराशि
नेह की राशि
किन्तु सुकुमारी
बेध कर नर के मोह पाश मे
तू जीती या हारी ?

मुजराघर के लाल फर्श पर
प्राणो मे तूफान उठाती
चिर-यौवन का,
चिर-जीवन का,
ओ उर्वशि,
तू भरे पले कुच-कलशो म
अमृत छलकाती ।

नूपुर-ध्वनि पर
स्वय रीझती
सौ बल खाती
सकुचाती
मुस्काती
अगो की लचकन से कवि के
प्राणो मे तूफान उठाती ।

जाग उठे नयनो मे सपने
जागे जूठे ओठा पर
बीती नस्लो के चुम्बन कितने
मै बोला
हे राज नर्त्तकी
तू जी लेगी
मै जी लूँगा
बजा करें यदि तेरे नूपुर
बजा करे यदि मधुर मन्द ध्वनि मे यह तबला
और घनी सदियो की यह वृद्धा सारंगी ।

बुझते दीपक का सा मुखडा
घायल कोयल की सी वाणी
चुप न रह सके उसके नूपुर
चुप न रह सका नटखट तबला,
चुप न रह सकी वह ढीले तारो वाली सारगी

गू ज उठी आवाज पुरानी
बेटा नहीं साँच को आँच
है सब गेहूँ की रोटी का मीठा राग
है सब गेहू की रोटी का मीठा नाच

मै बोला
हे राजनर्तकी
प्रेयसि
सुन्दरि
नृत्यगान मे तू जी लेगी
इसी तरह चाँदी के सिक्के
खुली जेब से निकल निकल कर
हुआ करें यदि यो न्योछावर
नृत्यतृप्त तेरे चरणो पर
इन स्वप्निल मीठे गीतो पर ।

कवि-मानस के कलाभवन में
शिव के सम्मुख
नाची सौ-सौ देवदासियाँ
मधुर सलोनी देवदासियाँ
रुनुन झुनुन, रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
मै बोला
हे राजनर्त्तकी
देवदासियाँ हारी

प्रतिदिन नाच-नाच कर
मौन हुई
जड पत्थर की प्रतिमाए बनकर
मानो फिर न बहेगे
उनके स्वर के निर्झर
मानो फिर न जगेंगे सपने
चचल मुद्राओ पर
मानो फिर न बजेंगे
सोने-चाँदी के मृदु नूपुर ।

फिर जब मने देखा झुक कर
मुजराघर के लाल फर्श पर
नूपुर की ध्वनि उठे निरन्तर
मादक स्वर मे
छन छन छननन छननन छन छन
छन छन छननन छननन छन छन
बोला तबला तीखे स्वर मे
मेरे तालो पर पडते है
पग नारी के
सारगी के तार कह रहे
हाय पुरुप को नारी से है क्या क्या आशा
आशा क्या क्या ।

पलकें मुदी अचानक मने देखा सपना

सपना—जैसा पहले कभी न देखा
माँ की गोद
गोद मे मै था
सिसक-सिसक रोता जाता था
बुझा-बुझा था दो दिन से मन
मैने सोचा पीना होगा
जीवन का विष सारा
सारा विष जीवन का
जैसे अमृत-मन्थन के दिन
पान किया था सागरतट पर महादेव ने।

देखी बिकती हुई नारियाँ
सब की सब घुन लगी हुई पीढी की
ये पददलित बेटियाँ
सभी उर्वशी की वे बहने
मूर्तिमान हो उठी शीघ्र
युग युग की पीडा
पीडित यह नारीत्व
और इसकी यह प्रतिमा
बनी आज मा मेरी
मेरी जननी यह नारी।

सन्थाल कुलवधू

काली विभावरी-सी थी सन्थाल कुलवधू
वशी-स्वर मे बोली—
प्रिय, ऋतु बदली
सॅकरी धमनी मे फिर उछली
धार लहू की

री वशी, अब छेड गुदगुदी तान
मेले का दिन आया
मन हुलसाया
दीप्तियुक्त उसकी आँखो मे
जागे नूतन प्राण !

माटी की मूरत-सी थी सचमुच सन्थाल कुलवधू
दो सडको के सगम पर जाने क्या सोच रही थी
पुरवाई मे उसका पीला-सा आँचल लहराया
ज्यो अडा सेने से पहले नेह-हिलोरें खाकर

मटमैली कबूतरी का जी थर्राया

सचमुच मुग्ध और तन्मय थी
रूप-वचना-सी सन्थाल कुलवधू
दूर कहीं उसकी वंशी के उत्तर में
बज उठी सलोनी वंशी
यहीं तुम्हारी जन्मभूमि में होता होगा, ओ सन्थाल कुलवधू !

खानाबदोश

ये दीवारें,
ये सीमाएं,
इनमें तो मन बन्दी-सा
आकुल हो उठता।
यदि मैं फिर जाना चाहूं इन दीवारों से दूर
मुझे रोक पायेंगी कब ये नई पुरानी दीवारें ?

कह उठता मन—जीवन तो बहती जलधारा
जल की ईहा गति-वरदान
ऋतु-हुचकोला नूतन गान
ईहा की मंजूषा में
ज्यों निहित पड़ा रहता है फीरोजे का टुकड़ा
ऐसे ही क्या बीत जायगा जीवन सारा ?

आँखें कहतीं—पथ आगे है, ओ नादान !
मन कहता है—दीवारो, हट जाओ !

सीपी मे ज्यो मोती जन्मे
मन मे जन्मे नन्ही-सी गति-ईहा
कैसे मै [illegible] कर लूं बन्दी-जीवन स्वीकार ?
गति-ईहा जीवन-अभियान ।

अबाबील

अबाबील का अण्डा
अण्डे के धब्बे
धब्बो का क्या सन्देश ?

अण्डा सेने का पुण्य-दिवस
ओ अबाबील की [illegible]
हिय-कम्पन का क्या सन्देश ?

नवजात विहग, तुमको प्रणाम
ओ गगन-स्वप्न, तुमको प्रणाम
पखो का क्या सन्देश ?

गुलमुहर के फूल

गुलमुहर के फूल भी क्या फूल है
चार दिन के मेहमान
आखिरी झाँकी भी हो उठती है
कितनी मूल्यवान

काश ! कोई इन्हीं फूलो से
सजा दे आज बन्दनवार
पर न जाने मन कहे क्यो आज बारम्बार—
गुलमुहर के फूल ज्यादा शोख है, नादान !

सनसनाते तीर-सा आकर लगा
गुलमुहर के हृदय-तल पर व्यग्य यह तीखा नुकीला
क्या बुरा है रग हो यदि शोख भी ?
रग आखिर रंग है—हाँ, रग है वरदान !

गुलमुहर यदि हो उठा नाराज
और खा ली शपथ उसने—मन की आशाएँ, उमंगें

मन के भीतर ही खिलाऊँगा सदा !
इस सडक की फिर कहाँ रह जायगी यह शान !

इतनी आजादी तो होनी चाहिए हर फूल को
रग दिल की आग का भडका सके,
गुलमुहर के फूल भी क्या फूल है
चार दिन के मेहमान !

गेहूँ की बालियाँ

ओ सोने के सूरज,
आज पका दो सभी बालियाँ
कह दो इनसे यदि ये नहीं पकेंगी
तो किसान गिन-गिन के देंगे इन्हें गालियाँ

कच्ची दूध-भरी बाली
यदि पकने से रह जाय
तो फिर उसके गालों पर
कैसे उभरे किरणों के चुम्बन ?

सिकुड़ी कोरों से बस रहे झाँकती
आखिर कब तक कोई बाली
लिपट-लिपट कर सोने के सूरज का
कैसे कर सकती आलिंगन ?

यदि दूध रहे वैसे का वैसा
यदि मन में मौज न थोड़ी-सी लहराय

यदि मदन-नरगें मन मे तनिक बजावें नही तालियाँ
यदि सचमुच पकने से रह जावें गेहूँ की ये सभी बालियाँ

बचपन बीता आया योवन
सोने का तन सोने का मन
गेहूँ की ओ मस्त बालियो, होगा ब्याह तुम्हारा भी तो
इक दिन तुम सब डोली मे बैठोगी ।

म र ग म

सभी गायिकाएं थम जातीं

सभी गायिकाएं थम जातीं
थम जाते पखोवाले घोडे भी
मैं भी अपने सपनों के सुन्दर पुर्जों को छोड रही हूं
खुल-खुल जाते हैं अखबार हवा में चीखों पर—
"उसे मार डाला जब वह आशीर्वाद देने निकला !"

निशि में करुण पुकार सुनी
जैसे पक्षी का चीत्कार हो
आँख खुली औ' देखा एक सुदूर अज्ञात स्थल
क्या यह तुम ही थे जिसने धीरे से सिसकी ली
अन्तिम रक्तधार जब निकल रही थी ?
कहीं दूर हड्डियाँ तुम्हारी ही थीं
जीवन के अवसान-मार्ग पर इधर आ रहीं,
लचकीले बाँसों के सदृश मुखरित दिन का
जब प्रस्थान हो रहा था ?
"इन्सान अभी वहशी है, महिला !"

सत्याग्रह के दिनो ! अरे जब घर-घर चरखा चलता था
जन्मभूमि के गान ! सुनहरे रेशम से सज्जित छोटे बाजो पर मुखरित
दार्जिलिंग की चाय सुवासित श्वेत गुलाबो के रस से, हे प्रेयसि !
गलियाँ, गलियाँ, गलियाँ,
क्या तुम जानो किसका खून हो गया सात समुन्दर पार ?
अखिल विश्व के श्याम अश्रुनो ! यह रोने का अवसर,
पर तुम यह भी नही जानते ।
"कवि ठाकुर ! तुम गाते हो ज्यो भोर-समय के पक्षी गाते
जिनका पेट भरा हो,
भूखे पक्षी भी है जिनके मुँह मे बोल नही है !"
हवा साँझ के अखबारो की दर्द-भरी सुर्खियाँ उठाती
बार-बार पढते है लोग
पढते है ये हिज्जे करते बाल-समान
औ' चल पडते,
चल पडते हम सभी अरे
हाँ, नजर न आता जिसे उसी को खटक रहा है काँटा
दृष्टि औ' आत्मा के बीच
पाँच बजे है यहाँ, देखती नाम तुम्हारा
आज हजारो प्यालो मे,
क्षणिक भाप मे—
चाय जिसे अब पी न सकेगा कोई ।

सचमुच क्या उसने चाहा था ?
क्यो आया था वह धरती पर ?

"मे माटी का प्याला हू जिसका निर्माण हुआ ईश्वर के अपने हाथो
नही रहेगी चाह यहाँ तो स्वय बुला लेगा फिर ईश्वर।"

तुम्हे गिराया ईश्वर ने सहसा—हाँ सहसा!
एक घूँट भर रक्त अभी रहता था भीतर
अभी तुम्हारा हृदय न सखा था, ओ गौरव-भूमि!
ओ सफेद चादर मे लिपटे गुलाब, पुण्य शब्दो मे मुखरित।

साझ समय की हवा नही थकती भारत बाजील के बीच—
अहिंसा सबके ऊपर, मेरे भाइयो!
पर सबकी जेबो मे है ये धुआँ छोडते-से पिस्तौल
सचमुच तुम एकाकी थे पिस्तौल-विहीन, जेब-विहीन, असत्य-विहीन
बेहथियार, न बीती कल की कुछ परवाह, न आगामी कल की ही चिंता

"इन्सान अभी वहशी है, महिला!"
हवा तुम्हारे जीवन को है छीन रही, ओ' मेरे जीवन का सर्वोत्तम भाग
वर्दी बिना, पताका बिना एक मनुज वह गिरती दीवारो के बीच,
भारत की महिलाएँ झुकी हुई है आज दीर्घ निश्वासो की गठरी-सी
जल रही तुम्हारी चिता, तुम्हे गगा ले जायेगी अब दूर
इक मुट्ठी भर राख जिसे जल चूमेगा समीप से
जल से इसे उठा कर सूरज सौपेगा ईश्वर को।

"इन्सान अभी वहशी है, महिला!"
ईश्वर से तुम क्या बोलोगे इन लोगो के बारे मे?

इक छोटी-सी बकरी मिमियाएगी करुण स्वरों मे ।
हवा उडाती अखबारा की सुरुय सुर्खियाँ,
नकली चेहरे घूम रहे ओ' नाच रहे है लोग
पर्वोत्सव है यहा और सर्वत्र,
पागलपन ओ' कामुकता की आवाजें धनुषो को तान रही
कर्कश आवाजो से मुखरित ये सीमेंट-मजिलें शत-शत ।
पुरुय पुरुष चुपचाप विदा लेते है बस
आशीर्वाद देते अपने हत्यारा को,
आन्तम वाणी समस्वरता की लोट रही है, आज गगन से
पुष्प झड रहे है मेरे वृक्षो के, निर्जनता करती आलिगन
मेघ आ रहे—ये विश्रामहीनता के प्रतीक-से,
मेघो को एकत्रित करती हवा, हाथियो को धकेलती,
उड चलो अरे लोगो उस निर्बल पुरुय पुरुष की करो मदद कुछ
तुम्हे चाहता था जो इतना !

मेरी बाँहो के साथ सरकता है सौदर्य, पराक्रम, आत्म-समर्पण
क्या-क्या विचार थे मेरे और तुम्हारे हिय के बीचोबीच
यो झट तडपा मेरा रक्त जाग कर आज तुम्हारा रक्त गिरा है ।
लिये जा रही हवा आज पुरुषो को धन्धो अपराधो की गलियो मे
लिये जा रही उनके सब अचरज, सयम, कोतूहल, हँसी, उपेक्षा
सबको घर की ओर धकेले,
चलती रहे चले ज्यो लम्बे-से जलूस मे घुडसवार सब
हवा चिता की ज्वालाए भडकायेगी, हौ-हलकी राख उडायेगी सब
रह जायेगा अन्धकार ओ' शोक अन्त मे आसू भी बह जायेंगे

जिन्हे थामते रहे सदा तुम शान्ति-खाइयो के भीतर ।

भगवान कहेगा—"वहशी है इन्सान अभी, बेटा !
हमने किये यत्न बहुतेरे, आओ उन्हे छोड दें ढीला
जिससे यह सब अस्तव्यस्त हो, उबल पडे सागर भी
चले जायँ ओ' लौट आयें, फिर जायें आ' फिर आयें
आयें ओ' मेरे नीले भवनो से नीचे अपनी भूलें देखें
आवश्यक है लौट चले हम आदिकाल की ओर
मीच लू मै भी आखे—

इसीलिए तो मैंने आज्ञा दी थी तुम्हे हरा दे हिसा
अभी तुम्हारी आवश्यकता नही रही मानव को
लो अब अन्तिम साँस कि जब तक हम दोबारा आँखें खोलें
जब फिर मानव हमे पुकारे ।"

ये ईश्वर के शब्द कि जिनको हवा बखेरे
शत-शत अग्निमुखो में
हड्डिया तुम्हारी राख बनी, अब हवा बखेरे इनको
शत-शत गुलाब में, महापुरुष हे ! [1]

१ ब्राज़ील की कवियित्री सेसिलिया मेइरलेस की एक कविता जो उन्हो ने धीजी की हत्या की खबर सुनते ही पुर्तगाली भाषा मे लिखी थी। प्रस्तुत न्दी रूपान्तर इस कविता के अंगरेज़ी अनुवाद से तैयार किया गया है।

बाट जोहते रहियो

मन से बाट जोहते रहियो मैं लौटूँगा एक बार फिर
साफ बताकर धता मृत्यु को हाँ फिर एक बार लौटूँगा
कहने दो जो वे कहते हैं—मुझे पता है कोई तो बोलेगा—
देखो कितना भाग्यवान है, मौत के मुँह से भी बच निकला।
क्या वे कभी मुझे समझेंगे ?—
मन से मेरी बाट जोहते रहे भला कब वे सब ?—
कैसे घोर नरक को कर आया मैं पार
वह सब जानें तुम औ' मैं
—तुम, जो मन से बाट जोहते रहे निरन्तर
लाख थी वर्षा लाख तुषार, दिन आया दिन बीत गया।[1]

१ रूसी कवि कोस्तांतिन सिमोनोफ की एक कविता

हिम

उत्तर का वह दृश्य समूचा
घिरा हुआ है हिम की शत-शत 'ली' से
तेज बवडर मे गिरती हिम की हाँ दसो सहस्रो 'ली' से
उस ऊँची प्राचीर के दोनो ओर तनिक देखो तो
एक सुविस्तृत अस्त-व्यस्त-सा दृश्य बच रहा
पीत नदी के ऊपर-नीचे
देख न सकते बहता जल
पर्वत है बस नाच-नाच उठते चाँदी के साँप
ये पहाडियाँ मैदानो की बस चमकीले हाथी
इच्छा होती है मै अपनी ऊँचाई की तुलना करूँ गगन से !

निर्मल ऋतु मे धरती लगती कितनी सुन्दर
लालमुखी कन्या हो जैसे पहने हुए श्वेत परिधान
सुन्दरता है कैसी पर्वतमालाओ औ' सरिताओ की
अगणित वीर स्पर्धा करते कैसे आकर्षित हो सुन्दरि
शी-हुआँग ओ' बू ती थे बस सभ्य मात्र सम्राट

ताइत्सु ग ओं' ताइत्सू थे निरे भावनाहीन
ओं' चगेजखान था अवगत कैसे बिधे उकाब तीर से
वे अतीत की थाती है—हाँ, आज मिलेंगे लोग भावना से भरपूर![1]

१ चीन के राष्ट्रपति माओ जे तुंग की एक कविता

खून का गीत

ठोर-ठिकाना नहीं गीत का इस पीड़ा के युग में
भाग्य पुकारे आज खून को
खून—जो दिल के भीतर से हाथों पर छलके
फैले चारों ओर कि जिससे धरती का सौंदर्य बढ़े
औ' निर्जीव पत्थरों से फिर फूटेंगी बालियां अन्न की
खून—अरे जो लौटा लाता सूरज का सब तेज
अन्धकार में बाले नई मशालें
खून—जो लाता उषाकाल जिसको समझेगी जनता
खून—जो लाता आजादी की रोटी
क्रोध और ज्वालाओं में जो खून बहा है—
इससे आज मिटायेंगे हम निर्बलता सब—
इसमें आज बहा देंगे सब शर्म-गुलामी
जो है सड़े-बुसे उस बोर-समान जिसे ले जाये नदी बहा कर
औ' जब तक वह शुद्धिदायिनी लहर गरजती तूफानों में
तब तक यही खून का गीत कि जिसमें सभी गीत हो जाते मौन।[1]

१ चैकोस्लोवेकिया के कवि हिवेज देस्लाव की एक कविता

स्पेन

तना हुआ औ' निर्जल था पहले का देश स्पेन
प्रति दिन धुँधले स्वर मे मुखरित ढोल
दूर दूर तक समतल था—बस निरा
घोंसला बना उकाबो का रे
चाबुक खाती खुली हवा की
निर्जनता-सा देश स्पेन ।

कैसे एक-एक आँसू तक
आत्मा की गहराई तक
तेरी कठिन भूमि औ' सूखी रोटी से है मेरा प्यार
तेरी निर्धन जनता मेरे जीवन के एकाकीपन मे
वयोवृद्ध ग्रामो का खोया फूल
कालचक्र से निश्चल
औ' तेरी खनिजो की कानें
बाँहें फैलाये है पडी चाँदनी मे युग-युग से
इन्हें निगलता वही देवता ।

ये सब तेरे भवन चतुर्दिक्
पशु-सा तेरा एकाकीपन तेरी बोधशक्ति के साथ
घिरा हुआ है नीरवता के
बोधहीन पाषाणों द्वारा
तेरी तेज तेज-सी मदिरा
तेरी हल्की-हल्की मदिरा
तेरी सूखी मीठी ये अंगूरी बेलें।

हे सूरजमणि, पुण्यभूमि तुम देश-देश में
तुम पर होकर गुजरे कितने रक्त, धातुएँ कितनी
हे नीलवर्ण, हे विजयभूमि
हे पखडियों-बन्दूकों के श्रमजीवी,
एक तुम्हीं हो एक साथ जीवित-निद्रालु-पुखरित

१ अमरीकन कवि पैवलो नेरूदा की एक स्पेनी कविता

तो हम आज चतुर्दिक् से हैं उमड़े

तो हम आज चतुर्दिक् से है उमडे, हुए एकत्रित
अग्निकाड का भय तो नही हमारे हिय मे
जल का नही अभाव यहाँ
यह जल झरने से लाई है जो बॉहे
उनकी गिनती करने से क्या लाभ ?
अच्छा हो यदि भॉप सकें यह आग दूर से

तग अँधेरी झोपडियाँ थी बिखरी-बिखरी
कुजो मे थे फूल महकते, उन पर बुलबुल चहक रही थी
धरती आज सिमटती
बिजली की गति से आती है खबरें
जब पडोस के किसी देश मे भभके ज्वाला
सभी बुलबुलें भूल जायँ मृदु गान
पीले पड जायें फूलो के चेहरे ।

दूर दूर की मजिल आई पास

फैल कर झोपडियाँ छाई धरती पर
यह है मेरा गाल कि जिस पर पडी चरत हरलम[1] मे
यह है बेटा मेरा
जिस पर थी यूनान देश मे दागी गई गोलियाँ
याँगसी-तट पर भी है मेरा अपना यही शरीर
चाहे गोरा, पीला, काला
टपकें वही खून के कतरे ।

जो भी हो चमडी का रग हमारे लिए एक ही बात
चाहे गोरा, पीला, काला
रग खून का होगा एक, अरे यदि फिर से गया बहाया
सभी पताकाए चिर-नूतन शोणित से रँग जायेंगी
ऐसी रक्तवर्ण जैसे पतझड के पत्ते

जो भी हो माता का लाल हमारे लिए एक ही बात
हो ना हो उसका विश्वास खुदा पर या उसके बन्दो पर
पर उसकी फरियाद मे होगी वही वेदना
कहेगा खुलकर—मै भी तुम-सा एक जले दिलवाला !
जिन्हे ज्ञात अपनी पीडा, औरो की पीडा,
वे आँसू की इस घाटी मे धरती के सुरपुर की बाट जोहते ।

जो भी हो बस रग वेदना का—हाँ, एक ही बात

---

१ न्यूयार्क मे एक नीग्रो बस्ती

चाहे मीठा कड़वा तेज,
स्नेह-भावना सदा एक है
जीवन-पथ भी एक
औ' अपमान-डंक भी एक
अँगड़ाई लेकर जो हर वाणी में काँप उठे।

रंग दूध औ' चीनी का कोई हो आज हमारे लिए एक ही बात
चाहे चावल रोटी आ' सपनों से प्रेम घना हो
यदि है जीवन-ध्येय बाँटना सारा चावल, रोटी, सपने
अपने मिलनेवाला में औ' उनके मिलनेवालों में,
बिना चुराये, बिना छुपाये
मेहनत का फल अपनी ही मुट्ठी में क्यों हो
सपनों की गहराई में हम आज चुरायें जीवन-रस क्यों ?

ओ गीतों की अमर भावना, तू महान्, तू जनवादी
अभिलाषा है यही कि मैं साधारण जनहित
उन्हें सँजोऊँ नित-नित की मेहनत से,
जिससे मेरी एक-एक लय,
मेरी कविता,
हो जाये गंभीर उन्हीं के सदृश।
मेरी कविता में प्रतिबिम्बित हो किसान के अन्नपात्र का सब विस्तार
उसका हर आघात बने घन की सी चोट !

हे मनचले गायकों, विजय-मार्ग के कवियों,

अरे साथियो, आज उन्हे भी पल भर चैन न लेने दो
जो अपने कठोर गीतो से मृदु गीतो के गले घोटते
औ' करते है भग हमारी सुन्दर नृत्य-सभाए
गाओ, आज उडाओ तानें, जिससे गीत तुम्हारा
रण-भेरी के तीव्र घोष को तुरत दबा दे।

शत-शत वर्षों के आँचल मे आज हमारा
धरती और गगन का नाच
हाथ मिलाये
ध्रुव-छाया मे चले जा रहे
धरती के सुरपुर की ओर
किरनें सभी छीन लेगे हम
जिससे क्षण भर मे भावी वसन्त मुसकाये।

आज हमारे लिए बनी है धरती साझे का मैदान
आज समय की सीमाओ पर
डटे रहे हम उसकी रक्षा करते
मौत मौत से मिले और जीवन से जीवन
आओ आज बचावें हम अपने बच्चो के सपने!'

१ रूमानिया के कवि मारसल बरलाशो की एक कविता

बैगपाइप[1] संगीत

हमे न चाहिए घोड-हिंडोला, हमे न चाहिए रिक्शा-सैर
एक बन्द मोटरगाडी हो, टिकट तमाशे का हो खैर
वे करेप की बनी नीकरें, जूतो पर अजगर की खाल
कमरो मे शेरो की खाले, औं' अरना-सिर-सजी दिवाल !

जान सा'ब को मिल गई लाश, छुपा दी झट सोफे के नीचे
इन्तज़ार मे मुर्दे ने बस आग-फूँकनी मारी
याद-निशानी बेची आखें, खूं बेचा व्हिसकी कहकर
और हड्डिया रख ली घर में, डम्बल पेलेगा पचासवीं वर्षगाठ पर ।

हमे न चाहिए योगी बनना, और न ब्लावत्स्की[2] की बात
बैंक मे हो बस नकद-नरायण, टैक्सी मे आँचल का टाट

एनी गई दूध लेने को, उलझ गया झाडी मे पैर

१ एक अंग्रेजी बाजा
२ रूसी महिला मैडम बलावत्स्की जो थियासोफिस्ट थी

जागी तो बज उठा रेकार्ड—पुराना बियना का सगीत
हमे न चाहिये ठेठ कुमारी औ' न तुम्हारा शिष्टाचार
हमे न चाहिए डनलप टायर, पकचर ले शैतान सभाल ।

लार्ड फिल्प ने खाली कर दी हैगमनी औ' कहा कि कब पी
गिनने लगा पैर, फिर बोला—ज्यादा है इक पैर
मेम सा'ब ने जना पाँचवाँ, देखा तो घबराई—
ले जाओ बस इसे परे, दाई, मै बच्चे जनने से बाज आई !

हमे न चाहिए गपशप-टोली, हम क्यो जायें सीलीडी
माँ की मदद चाहिए हमको, बच्चे को बस मिले मिठाई !

बिली मरे ने काट लिया अगूठा अपना, गिन न सका नुकसान
आयरशायर-चमडे से बाँधी पट्टी—वाह शान !
सारस पकडे भाई ने जब सागर मे आया तूफान
सागर में फेंकी नौकाएँ—पहुँचे गिरजाघर-मैदान !

हमे न चाहिए हैरिग बोर्ड, हमे न चाहिए बाईबल
बेगारो का पैकट हो बस, जब बेगारी का हो पल !

हमे न चाहिए सिनिमा हाल, हमे न चाहिए कसरत-घर
हमे न चाहिए ग्राम-झोपडी, खिलते जहा फूल सुन्दर
चाहिए नही ग्राट[1] सरकारी और न नये इलेक्शन

१ सहायता

चूतड के बल बैठो बरस पचास—टाँग दो हैट, रही वह पैन्शन !

हमे न चाहिए मीठी प्रेयसि, हमे न चाहिए मीठा यार
काम करो हाथो से प्यारे, लाये हवा नफा-बौछार
हवा-माप तो पल-पल गिरता—शुक्रवार हो या इतवार
इस शीशे को तोडो भी तो रुके न मौसम की रफ्तार ![1]

१ अंग्रेज़ कवि लुई मैकनिस की एक कविता

अबीर गुलाल

फागुनी व्यंग्य

उतरते फागुन के सख्यातीत रूपो की लुभानी बात
चीन्हता हूँ टेर माटी की मै दिन औ' रात
चाँद-सूरज से है मेरी दूर से पहचान
इनके सम्मुख टिक नहीं सकता अहम् का गान
तुम ! जिसे मैने लिया था देख भारी भीड़ मे
तुम ! कि एकाएक चढ़ बैठे हवा की पीठ पर
खेद ! प्रियवर, खेद
हाय, मेरा उतरते फागुन का खेद

कहो क्या तुम मानते हो आज भी
इन्सान औ' इन्सान में यह भेद ?
यह तुम्हारा अहम्, प्रियवर !
तुम हो वह चट्टान जिसका हुआ हो निर्माण
हीनभावों के पिघलते घोर लावे से
काँच की चूडी निरा यह अहम्, प्रियवर !
यह तुम्हारा अहम् है कितना विषैला औ' अहितकर !

उतरते फागुन के थे रमणीक दिन
इसी माटी पर मिले थे हम कि जब था पुष्प-अभिनन्दन
इसी माटी पर खिची लीकें ये, प्रियवर, टेरती दिन रात
टूटने पाये कदापि न विश्वजन का साथ
यही माटी स्नेह से बाहें उठाकर
दे रही आशीष सुखकर ।

आज माटी को करेगा मनुज कोटि प्रणाम
और वह माटी है कितनी सुखद, चिर-अभिराम
मनुज का इतिहास लिखते आये ये हँसिये औ' हल
जय मनाते आये माटी की ये सब प्रतिपल
और माटी की ये आँखे मोहिनी-सी डाल
क्या तुम्हारे अहम् का दीपक सकेंगी बाल ?
ये तुम्हारे मन के वातायन कभी खुलते नही, प्रियवर !
हाय ! फागुन जा रहा तुमको नही कुछ भी खबर
कहो कब तक अधर पर ये अहम् के कटु स्वर ?

उतरते फागुन का यह उल्लास
पर तुम्हारा अहम् सचमुच सत्य का उपहास
तुम समझते हो कि केन्द्रित है तुम्ही मे विश्व की रूपाभ
अब जो वातायन खुले इससे भी क्या फिर लाभ ?
कहो क्या कहता तुम्हारा मन—
चुक गया गुलाल जो उडा रहे हो धूल पतिक्षण ?
आह ! स्वर सप्तक का तुम न ले सके सबल

अब निकल सकते न इससे—
अहम् की यह घोर दलदल !

आज है अपराजिता का ब्याह, प्रियवर,
टेरता तुम को नहीं क्या यह सुअवसर ?
वचन शत-शत दिये थे तुमने अभी उस दिन
आह स्याहीसोख-सा भी ग्रहणशील न यह तुम्हारा मन !
कहो चक्रव्यूह कैसा है यह, प्रियवर ?
किसी भी अपराजिता के हाथ से बस एक प्याली चाय
क्या बुरा जो सहज ही मिल जाय ।

कुल्लू का देवता

मैं कुल्लू का देवता
मैं घोर पुरातन देवता
मेरी वज्रदेह युग-युग से,
वर्षा आँधी तूफानों से
औ' बर्फों से
लेता आया होड सदा मैं।

परवाह नहीं यदि झडी उँगलियाँ
पडी झुर्रियाँ माथे पर
परवाह नहीं भग्नावशेष-सी
मेरी वज्रदेह है आज
हिय मेरा अब भी बलवान
मस्तिष्क चेतनामय
नयन जागते निशदिन।

परवाह नहीं यदि हूण-कुशाणों

मुगल-पठानों
चतुर फिरंगियों के हाथों से
दक्षिण, पूर्व और पश्चिम से
मुझे धकेला गया सदा ही
पर है अब तक याद मुझे सब
अपना गौरव
अपनी दृढता
अपना ज्ञान

और मुझे पूरा विश्वास
फिर होगा मेरा विस्तार
फिर छू लूंगा शत-शत जनपद
पूरब पश्चिम
उत्तर दक्षिण
नभ पृथ्वी पाताल त्रिलोक
झुक जायेंगे मेरे सम्मुख
रवि शशि तारे
चार दिशाएं
और सकल ब्रह्माण्ड ।
मै कुल्लू का देवता
मै घोर पुरातन देवता ।

रावणलीला

बाल्यकाल मे बडे शौक से
हम देखा करते थे
रावणलीला
अब भी मेरे जन्मग्राम मे
होती होगी उसी मजे से
रावणलीला

याद है रावण घोर युद्ध में
मरता था हर साल
जलता था हर साल
जाने फिर कैसे झट अगले साल
पैदा हो जाता था रावण
रगमच पर फिर मरता था रावण

शायद रावण घोर युद्ध मे
मरता नही कभी

जलता नहीं कभी
रावण यदि स्वयं कहीं मिल जाय
पूछ लूँ चिर-जीवन का भेद
जय रावण, जय रावणलीला !

पुरी

लहरो री लहरो, री रगीन लहरो
री किरनो की बहनो
अरी 'किलकिली'[1] खेलती मस्त सखियो
री बचपन की चचल, हठीली हिरनियो
री इठलाती इतराती रगीन लहरो !

कहो, कुछ तो लहरो
सुनो, कुछ तो लहरो
अँधेरे मे बैठे जगन्नाथ का मन
अपने मे सीमित महाकाल का मन
नही हर सकी तुम
पाषाण-मन्दिर के भीतर निहित उस पुरी-देव का मन,
लहरो री लहरो
री रगीन लहरो
पुरी-तट की ओ मचलती मस्त लहरो !

१ बालिकाओ का एक खेल जिसमे वे एक दूसरी के हाथ खीचती हुई पैर मिलाकर घूमती हैं।

लाखों ही प्राणी
करोड़ों ही जन
छूते रहे देवता के चरण
झुकते रहे उसके सम्मुख
जगन्नाथ की जय मनाते रहे
जगन्नाथ मुख से न बोले
अरी किलकिली खेलती मस्त लहरो !
पुरी की अरी चुलबुली चुस्त लहरो !

अश्रुबहे व्यर्थ ही, व्यर्थ ही !
वेदना भी ढलकती रही, व्यर्थ ही !
आरती भी न फल दे सकी
युग-युग से वैसे ही मानव है भूखा
युग युग से वैसे ही मानव है नगा
लहरो री लहरो
री रंगीन लहरो
पुरी की अरी साँवरी गोपियो !

बेगार

आवश्यक है झीने रेशम-तार
पीढियो का वरदान
रेशम के कीडे बेगारी
बँधे हुक्म मे कातें रेशम-तार ।

आबश्यक चमकीले रेशम-तार
पीढियो का इतिहास
काल पडेगा कब रेशम का ?
रेशम के कीड़े है श्रम साकार ।

आवश्यक गर्वीले रेशम-तार
पीढियो का युग-गान
ओ कीडी, ओ वीर सैनिको, कातो रेशम
खत्म न होगी अब बेगार !

उमर ख़ैयाम

सत्य क्या है न्याय क्या है
ये प्रश्न तो पूछने होगे, अरे ओ आज के कवि !
आज मटमैली है सचमुच सत्य की तसवीर
फिर उसी फौलाद मे है ढल रही अन्याय की जंजीर

आज उपमाएँ तुम्हारी बेसुरी-सी
हाय ये युग-युग के जूठे चुम्बनो-सी
तुम समझते हो कि युग का
थर्मामीटर है तुम्हारे हाथ मे

हाय यह मिथ्या अह का बोल
किसी कसबी के रँगे-से गाल पर
मुसकान का कल्लोल
झुर्रियो की सिकुड़ती चितवन पै बजता ढोल

युग किसी को यो क्षमा करता नही

तुम समझते हो कि मित्रों की
भरी महफिल मे काफी है
बदलते युग की गपशप

एक गाली इधर औ' बस
एक गाली उधर, मेरे यार !
जानता हूँ मै तुम्हे, तुम रात के हो चोर—
उमर खैयाम, मेरे यार !

काफ़ी हाउस

नये जुते खेतों से आती हुई भभक-सी
मन का भार बनी यह काफी
मन को डुबा रही यह काफी

ढलके-ढलके जूड़े
उभरे-उभरे सीने
फ़र्श चूमते आँचल

पखे तले तम्बाकू की बू
उडते-फिरते धूएँ
उठता-गिरता शोर

इक-इक युवक, युवतियाँ तीन
युवती एक, युवक है तीन
उडतें उडते चुम्बन

बन्दनवार

'धरती का सीना लाल !'
'भूखा है बंगाल !'
'थोडा मेरी ओर सरक आओ—मिस पाल !'

'ब्वाय ! काफी इस ओर !'
'आल्सो कैश्यू नट्स फोर !'[1]
'वी आर नाट लेट, श्योर !'[2]

१ अर्थात् काफ़ी के अतिरिक्त चार प्लेटे काजू की भी लेते आओ
२ हमे देर तो नही हुई सचमुच

अनुक्रमणिका

(प्रथम पंक्तियों की तालिका)

अबाबील का अण्डा	१२१
आवश्यक है झीने रेशम-तार	१५८
इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती	७२
उत्तर का वह दृश्य समूचा	१३५
उधर का खुदा है उधर	५०
उतरते फागुन के सख्यातीत रूपों की लुभानी बात	१४६
एक घूँट	६६
ओ अवसादमयी वशी टुक देख गगन की ओर	७५
ओ हिन्दुस्तान	५५
ओ सोने के सूरज	१२४
कलकत्ते के बाजारों में अब भी रेशम मिल सकता है	५३
कवि, जेठ मास के बनते हो तुम कटु आलोचक	६६
कवि, तुम कालिदास के वंशज	८३
काली विभावरी-सी थी सन्थाल कुलवधू	११७
कूच बिहार रहेगा याद	११०
खून से लाल होती रही है जमी	५७
गुलमुहर के फूल भी क्या फूल हैं	१२२
घूमे औ' चल पड़े कि जैसे रथ के पहिये	६४
चू पड़ते है चट्टानों पर	६१
ठौर-ठिकाना नहीं गीत का	१३७

तना हुआ औ' निर्जल था पहले का देश स्पेन १३८
तो हम आज चतुर्दिक् से है उमडे, हुए एकत्रित १४०
देश काल की सीमाएं ७८
नये जुते खेतों से आती हुई भभक-सी १७१
नारी जन्म-जन्म की सगिनि ११२
निद्रा-पथ पर विजय-पताका फहराओ रे मा बलिहार ६५
पशमीने की शाल यही ४६
प्रेयसि ! ८७
बाल्यकाल मे बडे शौक से २५४
भारमाता ! ६१
मन से बाट जोहते रहियो, मै लौटूँगा एक बार फिर १३४
मेरी प्रेयसि १०५
मेरे कन्धो पर सिर रखकर, दो उदास आँखो से १०८
मै कुल्लू का देवता १५२
ये दीवारे ११६
लहरो री लहरो री रगीन लहरो १५६
लो आया भूकम्प ६६
लो बजे ब्याह के ढोल और गूंजी शहनाई अलसाई-सी ४३
शत-शत स्वर्णहार पहने, हो, अमलतास-सा, प्रेयसि ८०
सत्य क्या है न्याय क्या है १५६
सभी गायिकाए थम जाती १२६
हमे न चाहिए घोड-हिंडोला, हमे न चाहिए रिक्शा-सैर १४४

बन्दनवार -